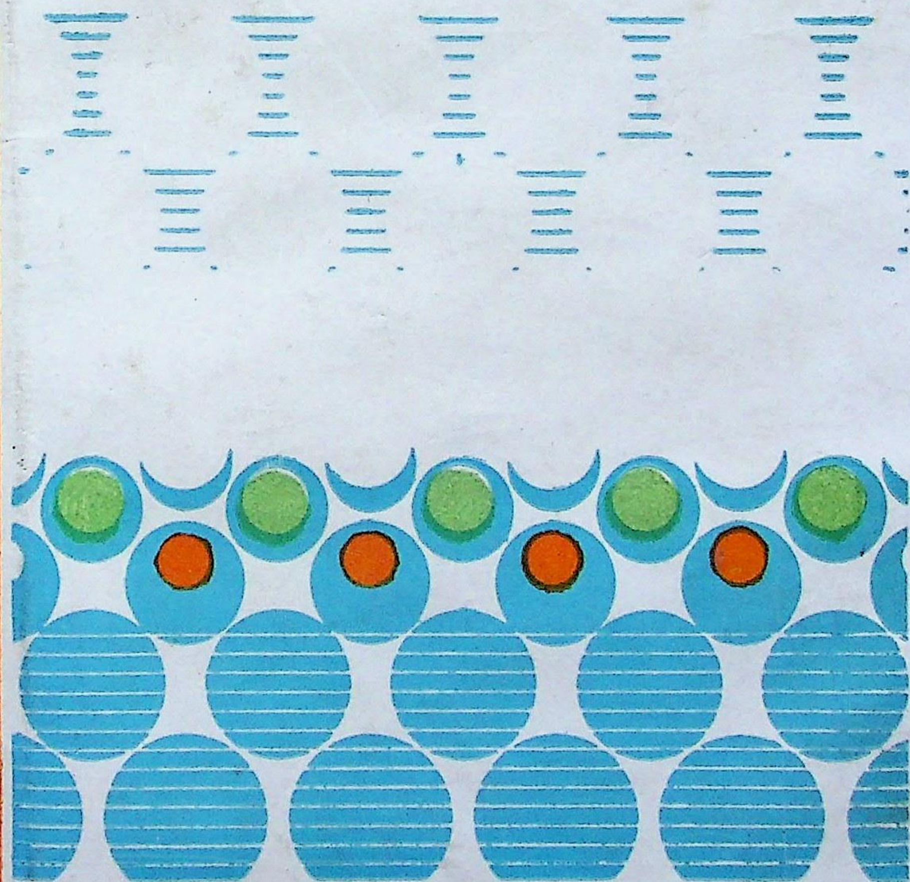
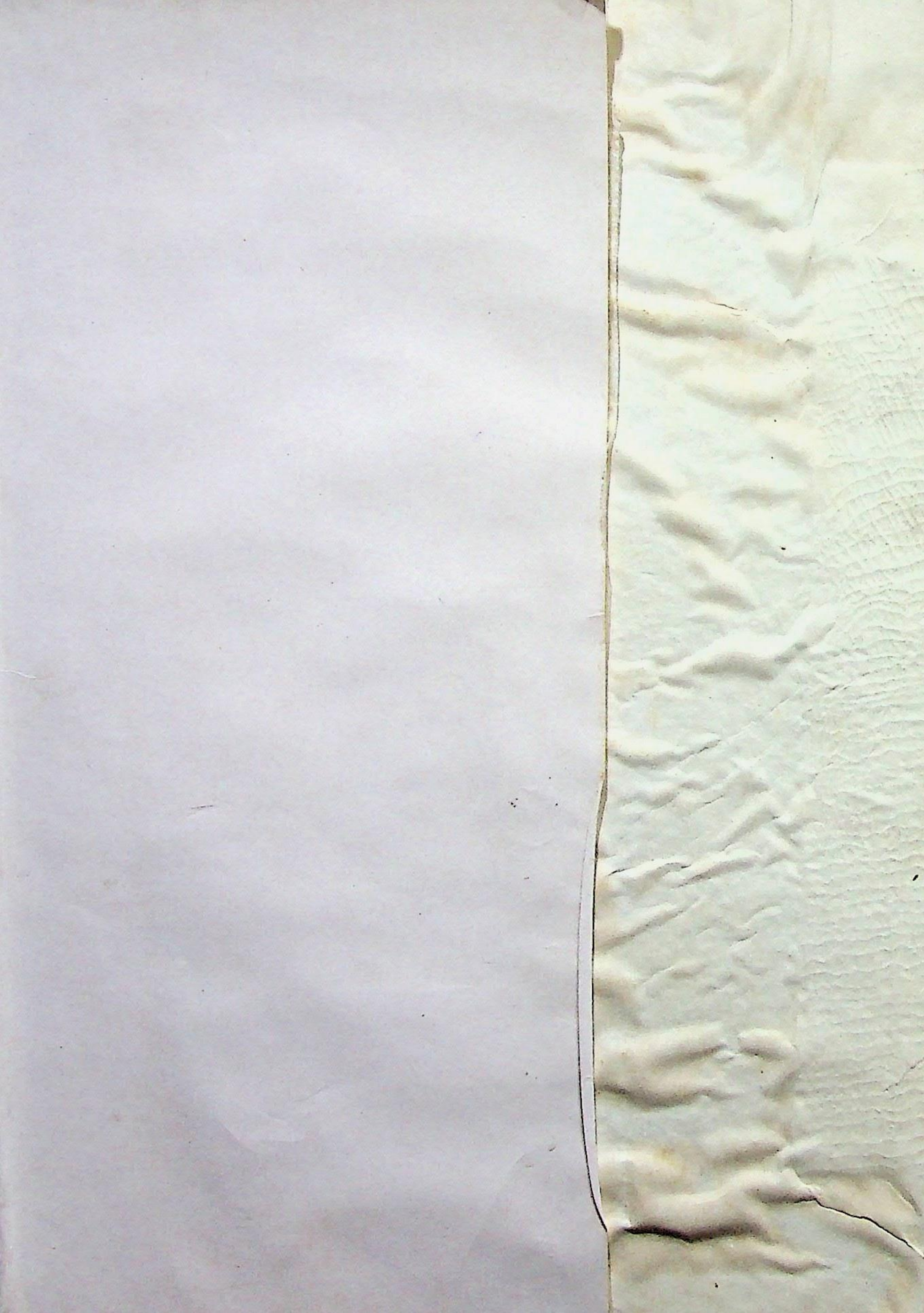
हमारा साहित्य



जे. एंड के.
अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एंड लैंग्वेजिज़, जम्मू





हमारा साहित्य

1992—1993

(अंतरंग-बहिरंग)

सम्पादक

डा० उषा व्यास



अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एंड लैंग्वेजिज़, जम्मू

मूल्य : 32 रुपये 25 पैसे

प्रकाशक—सेक्रेटरी, जे० एंड के० अकादमी आफ, आर्ट कल्चर एंड लैंग्वेजिज़
जम्मू ।

मुद्रक— मैसर्ज़ बी० डी० प्रिंटर्ज, कोट किशन चन्द, जालन्धर ।

Hamara Sahitaya 1992—1993
(Special issue on the life and works of J & K Writers)
Edited by : Dr. Usha Vyas

आमुख

पाठक जानते हैं कि शीराज़ा की भांति राज्य में साहित्यिक जागरण और नवचेतना का वाहक 'हमारा साहित्य' भी अकादमी का ऐसा महत्वपूर्ण प्रकाशन है जो 1975 से एक नई दिशा की ओर उन्मुख है।

कहना न होगा कि किसी विषय विशेष पर आधिकारिक और प्रामाणिक सामग्री से सुसज्जित इसका प्रत्येक अंक अपनी हृदयग्राहिता को लेकर न केवल राज्य में वल्कि देश भर में प्रशंसित हुआ है।

अपनी इसी परम्परा में प्रस्तुत अंक भी स्वयं अपने आप में एक अछूती ताज़गी लिये हुए है जिसमें हमने जम्मू-कश्मीर राज्य के रचनाकारों के जीवन और सृजन के धूपछांहीं रंग उकेरे हैं। ये रंग जहां रचनाका की विशिष्ट रचनाशक्ति के परिचायक हैं वहां उनके सरोकारों का रूपायन भी।

'अंतरंग-वहिरंग' के तहत हम मात्र उन्हीं लेखकों का कथ्य संजो पाये हैं जो हमें निर्धारित समय पर उपलब्ध हो सका। अन्य विशिष्ट रचनाकारों से जुड़ी रचनाएं कुछ तो उनके एकांगीपन के कारण और कुछ अपनी सीमाओं के कारण इसमें सम्मिलित करना हमारे लिये संभव नहीं हो पाया। अत: हम वांछित सामग्री उपलब्ध होते ही अपने आगामी प्रकाशनों द्वारा अवश्य अपने पाठकों तक पहुंचाना चाहेंगें।

और अब यह अंक ! आपकी प्रतिक्रिया ! हमारी प्रतीक्षा !!

—संपादक

इस अंक में—

अंतरंग

चन्द्र कांता

अपने बारे में सोचते हुए अब भी मुड़कर देखती हूं तो मुझे एक छः सात वर्ष की खिलंदड़ी बच्ची आड़ी-मेढ़ी घासीली पगडंडियों पर हवा से होड़ लेती भागती नज़र आती है। कंधे तक लटकते बेतरतीब उलझे बाल, मुंह माथे पर छितराए, वह कच्ची दूधिया पगडंडियों पर ऊंचे चीड़, देवदारों से बतियाती बेतहाशा दौड़ी जा रही है, अकेली-अकेली। जबकि उसके भाई बहन संभ्रान्त घर के तौर-तरीकों के अनुसार घर में बैठे खिलौनों से खेल रहे होते हैं। अक्सर किसी बादाम, नाशपाती या अखरोट के पेड़ पर चढ़ कर फल तोड़ती-गिराती अधकुतरे मीठे फल फ्राँक के घेर में इकट्ठा करती, चीड़ की कटी टहनियां बटोरती, यह लड़की, हांफती, पसीना-पसीना हुई पहाड़ी पर बने बंगले में दाखिल हो जाती है, जहां एक हालनुमा हवादार कमरे में तीमारदारों से घिरी एक औरत पलंग पर लेटी होती है। बच्ची बड़े एहतियात से चीड़ की टहनियां उसके सिरहाने सजा देती है। डाक्टरों ने जो इस स्त्री को शुद्ध हवा सेवन के लिए शहर के पंचमंजिला घर से वुरपश गांव के इस छोटे से बंगले में रहने की सलाह दी है। अधकुतरे मीठे बादाम, अखरोट ज़बरदस्ती उस स्त्री के मुंह में भरने पर लड़की डांट खाती है, पर सिर झटक कर हंस देती है। क्योंकि उसके मन में अखंड विश्वास है कि यह तपेदिक की मरीज़ औरत, जिसकी भूख और उम्र तेज़ी से घट रही है, जो इंच दर इंच मौत के करीब खिसकती जा रही है, उसके चुन-चुन कर लाए फल-फूलों और चीड़ की कटी टहनियों में जीवन की संजीवनी से जी उठेगी। यह औरत, जो उसकी मां है, मौत के बिस्तर पर भी चिंतित है कि उसकी इस 'कलंदर' बेटी का क्या होगा? क्या इसलिए कि लड़की के घर संभ्रांत अनुशासनों और दायित्वों से बंध नहीं पाती, लीक तोड़ कर चलना चाहती है?

और जब एक दिन चीड़ देवदार की शफ्फाक हवाओं की गोद में भी वह पलंग खाली हो गया, तो वह छः सात वर्ष की चहचहाती बालिका सुग्गे, घुग्गी और पोशनूल से बतियाना भूल उम्र से पहले ही बड़ी हो गई। चुप, गुमसुम और अपने भीतर कैद। बाहर से ज्यादा उसके भीतर तेज़ी से कुछ घटने लगा। चीज़ें अपनी शक्लें बदलने लगीं। आकाश का नीला विस्तर एकदम घोंट खोह में कैद

हो गया। आसमान को अपने परों पर तोलने वाले रंगीन पांखी उसकी नज़रों से दूर चले गये। उसके बाद वह लड़की उन खुली पगडंडियों पर नहीं दौड़ी। उसके भीतर उमगती बेइंतहा बातें, कौतुक भरे प्रश्न जमकर ग्लेशियर बनते गए। वह बहन, भाई, पिता, किसी से भी अपने भीतर उगते बेसिर पैर के प्रश्न नहीं पूछ पायी। उसने 'ढंग से' बात करना, कहना, सीखा ही कहां था? तब बारह वर्ष की उम्र में उसने पहली कविता लिखी "भर आता जब यह मौन हृदय..." क्या भीतर जो घट रहा था, उसे जानने के लिए? ज़रूर यह छुई मुई उम्र की भावुक अभिव्यक्ति थी, पर महत्वपूर्ण इसलिए कि वे पहले-पहले शब्द थे जो मेरे भीतर से पहाड़ी झरने की तरह फूटे थे और इन्हें अपने घर वालों से छिप कर मैंने कागज़ पर उतारा था। मेरे साहित्यकार के जन्म की शुरूआत वही थी। इसलिए मैं आज भी मानती हूं कि रचनाकार का जन्म दुःख से होता है।

घटनायें जीवन में बहुत घटीं, उसका प्रभाव भी मुझ पर पड़ा पर सभी के साथ घटनाएं घटती हैं। हमारे व्यक्तित्व में वे कुछ जोड़-तोड़ भी करती हैं। एक घटना जिसने बचपन को लांघ कर मुझे एक दम ढेर सारे दायित्वों के बीच खड़ा कर बड़ा बना दिया, बहुत छोटी उम्र में पिता की देहरी छोड़नी थी। हमारे विद्वान पिता, प्रोफेसर रामचन्द्र पंडित ने नारी शिक्षा के हिमायती होने के बावजूद, हम दोनों बहनों के लिए घर और वर समय से पहले ही जुटा लिए। तमाम दानिशमंदी के बावजूद वे तेज़ी से बढ़ती अपनी वय से शायद आशंकित थे। उनकी आशंका अपनी जगह सही भी थी, बिना मां की बेटियों के भविष्य के लिए। मेरे लिए यह दूसरा धक्का था, क्योंकि नये घर में तमाम प्यार और आदर की हक़दार होने के बावजूद मुझे लगा कि किसी ने बड़ी बेदर्दी से आकाश में उड़ान भरते पांखी के पंख कतर दिए हैं और उसे सोने के पिंजरे में कैद कर दिया है, जो अब उम्र कैद है। साल भर इस कैद में आंसू बहाते मैं यह तो समझ गई कि कैदें ज़िन्दगी की ज़रूरी शर्तें हैं, पर मन में एक ढीठ निश्चय भी उभरता गया कि कोई भी कैद मेरे उन्मुक्त मन को बांध नहीं पाएगी। जिस्म की कैद में भी मेरा मन आसमान की ऊंचाइयां छूता रहा। मैं छोटी उम्र में बेहद कल्पनाशील बन गई। कुछ करने और बनने की ज़िद मुझे अकसर बेचैन रखती। ज़रूर मेरे पति डा० विशन ने, जो तब स्वयं बी. एस. सी. के छात्र थे और मेरे ससुराल वालों ने, मेरी कुछ बनने और पाने की ज़िद को समझा और मेरे रास्ते में रुकावटें नहीं डालीं। इसलिए तमाम पारंपरिक मान्यताओं व संहिताओं के बीच मैं घर की बड़ी बहू, एक बेटी की तरह घर में रही, स्कूल-कालेज में अपना अध्ययन मनन जारी रखा।

समय को तो बीतना ही होता है। मैं छिटपुट कवितायें स्कूल-कालेज की पत्रिकाओं में लिखती रही। श्रीनगर में गर्ल्स कालेज में, फिर गांधी मेमोरियल

कॉलेज में कुछ कवितायें, कुछ कहानियां छपीं। एम. ए. करते समय, बिरला कॉलेज, पिलानी में एक बार हमारे प्रिंसिपल डॉ० कन्हैया लाल सहल ने कविता प्रतियोगिता के लिए मुझसे एक कविता लिखवाई, जो बाद में पुरस्कृत भी हुई। उस बार पिलानी के बिरला ऑडिटोरियम में पुरस्कार वितरण समारोह में डॉ० सहल ने निरन्तर लिखने और लेखन के उत्तरोत्तर विकास सम्बन्धी जो बातें मुझसे कहीं, उनसे मुझे बड़ी प्रेरणा मिली। पिलानी में दो वर्ष अध्यापन करने के बाद मैं अपने पति डॉ० विशन के साथ हैदराबाद चली गई। वहीं मेरा नियमित लेखन आरम्भ हुआ। मैंने नौकरी छोड़ कर स्वतंत्र लेखन का दायित्व उठा लिया। मुझसे नौकरी, लेखन और गृहस्थी साथ-साथ नहीं निभे। चुनाव मेरा अपना था। मेरे पति ने मेरे रास्ते में कभी कोई बाधा नहीं डाली।

सितंबर 1967 में कल्पना (हैदराबाद) में मेरी पहली कहानी 'खून के रेशे' प्रकाशित हुई। उसी वर्ष अक्तूबर में नई कहानियों में 'कैक्टस' और अगले वर्ष 'ज्ञानोदय' में 'सलाखों के पीछे' आदि कहानियां प्रकाशित हुईं। बाद में धीरे-धीरे अन्य व्यावसायिक-अव्यावसायिक पत्रिकाओं में बराबर लिखती रही। जिस दौर में मैंने नियमित लेखन शुरू किया, कथा जगत में वह दौर काफी बहस-मुबाहसों एवं नए प्रयोगों का दौर था। नयी कहानी के विरोध में 'अकहानी' का नारा बुलन्द किया जा रहा था और कामू काफ्का की भोंडी नकल के फलस्वरूप 'संत्रास' और 'सैक्स' को फैशन बनाकर भुनाया जा रहा था। नयी कहानी वाले दौर की तरह ही अकहानी के लेखक अपने पूर्ववर्ती लेखकों को अस्वीकार करने लगे थे। उन दिनों अमृतराय 'नई कहानियों' का संपादन करते थे और मैं बराबर उसमें लिख रही थी। अमृत जी ने 'सार्थक विद्रोह, दशा-दिशा-संभावना' के नाम से एक लेख माला में 'सार्थक कहानी' पर एक बहस की शुरूआत की जिसमें छद्म आधुनिकता का विरोध किया गया और लेखन को समकालीन जीवन एवं भोगे हुए यथार्थ से जोड़ कर जीवनास्था पर बल दिया गया। मुझे नयी कहानियों के इस स्तंभ ने दिशा दी, यह मैं आज भी मानती हूं।

उसके बाद कहानी सचेतन समांतर, जनवादी आदि खेमों में बंट गई। अलग-अलग खेमों में अलग-अलग अलमबरदार और आलोचक बन गये। पर खेमों ने मुझे कभी आकर्षित नहीं किया। में बराबर लिखती रही और अपने लेखन को संवारती रही। साहित्य पुराना, परंपरावादी या रूढ़ हो सकता है, यह बात आज भी मैं नहीं मानती। समय के इस दस्तावेज को समय के संदर्भों के साथ जोड़कर देखने पर भी यह बात स्पष्ट है कि साहित्यकार समय की सीमा के पार देखता और सोचता है। मानवीय संवेगों और स्थितियों से संबंध रखने के कारण युगों तक हमें अपने भीतर झांकने, सीखने और जीने की प्रेरणा देता है। वह चाहे कथा सरित्सागर, उपनिषद् कथाएं, चन्द्रकान्ता संतति हो या तुलसी, कबीर, कालिदास, प्रेमचन्द की रचनाएं हों। साहित्य जीवन की मूलभूत शर्तों से जुड़ा

होने के कारण पुराना पड़ ही नहीं सकता। तभी तो हम टालसटाय, गोर्की, चेखब, दास्तोएवस्की, हेमिंग्वे, कालिदास आदि को आज भी बड़े चाव और उत्सुकता से पढ़ते हैं।

नयी कहानी के दौर वालों ने अज्ञेय, जैनेन्द्र आदि का विरोध किया तो अकहानी वाले खेमे ने साठोत्तरी लेखन से नये कहानी के रचनाकारों को खारिज कर दिया। दरअसल विरोध की यह नीति ही गलत थी। तुलसी, प्रेमचन्द, उग्र, जैनेन्द्र, अज्ञेय, मुक्तिबोध, राकेश, धर्मवीर, भारती, राजेन्द्र यादव, भीष्म साहनी आदि यशस्वी रचनकारों ने हिन्दी साहित्य को जो अमर कृतियां दीं, उन पर हमारी अगली पीढ़ियां गर्व करेंगी।

मैं तब भी मानती थी और आज भी मानती हूं कि साहित्यकार प्रगतिशील ही होता है। दकियानूसी, वक्त की धार से कटा हुआ कोई भी रचनाकार जीवन के विशाल फलक को खुली आंखों और खुले मन से दूर तक देख नहीं सकता। अतीत, वर्तमान और आगत चेहरों को पढ़ कर उन्हें संवारने का स्वप्न देख नहीं सकता। मेरे विचार में जो रचना जन के सुख-दु:ख, संघर्षों, तनावों-उलझनों से जुड़ी हो वह रचना जनवादी ही होती है। उसके लिए किसी विशिष्ट नीति या ढांचे में फिट होने की जवाबदेही नही है। कहानी परंपरा से हमारे पास आई है और अरसे से बदलते संदर्भों से जुड़कर सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों को प्रतिबिंबित करती रही है। समय की गाथा होते हुए भी कहानी की दृष्टि आगामी कल पर होती है। कहानी का जन्म ही आपसी सुख-दु:ख बांटने की इच्छा के साथ हुआ। यही निश्छल संवाद कहानी का मूल है। वक्त के हालात के साथ जुड़कर उसमें वक्त का दर्द भरा चेहरा उभर आया। स्थितियों के प्रभाव झेलते आम जन का भीतरी एवं बाहरी परिवेश झलक पड़ा, जो स्वाभाविक था क्योंकि साहित्य समय का आईना है।

अपने रचना कर्म के दौरान मैंने पाया कि रचनाकार पहले-पहल निजी सुख-दु:ख से ज्यादा जुड़ा रहता है और धीरे-धीरे अनुभव संपन्नता से रच कर वृहत्तर समाज के सुख-दु:ख का भोक्ता बनने लगता है। मेरे लिए लेखक जहां भोगे हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति है, वहीं अनुभव किये सत्य की भी। मैंने जिन संदर्भों एवं स्थितियों को शिद्दत से महसूस किया, व्यवस्था के जिन दंशों ने मुझे दंशित किया, मैंने उन्हें अपनी रचनाओं में ढाला। मैंने जिस आत्मीयता एवं मार्मिकता के साथ अपने निजी सत्यों को "पोशनूल की वापसी", "ओ सोन-किसरी", "तैंतीबाई" आदि कहानियों और "ऐलान गली जिंदा है", "यहां वितस्ता बहती है" आदि उपन्यासों में अभिव्यक्त कर आम आदमी का सच बनाया, उसी आत्मीयता एवं जीवंतता के साथ अनुभूत यथार्थ को "आत्मबोध", "सिद्धि का कटरा", "नूरा बाई", "पत्थरों के राग", "अन्तिम साक्ष्य", "अपने

अपने कोणार्क" आदि कृतियों में ढाल कर पाठकों के सामने प्रस्तुत किया। अब अपने पराए का फर्क करना ही बेमानी लगता है। अनुभूतियों के विविधवर्णी सागर में डुबकियां लगाते हम सभी कहीं न कहीं एक रंग दिखाई देते हैं, शायद बहुत गहरे, कहीं हैं भी। "पत्थरों के राग" कहानी पढ़ कर मेरी मित्र ओड़िया लेखिका प्रतिभा राय ने कहा—"लगता है, तूने कहानी नायिका सोलन का दर्द भोगा है, नहीं तो इतनी मार्मिकता और जीवंतता दूसरों के दुःख का स्वर देते नहीं आती।" जबकि उसे मालूम है कि मेरी तो किशोरावस्था के प्रथम चरण में ही शादी हो गई थी। मेरा उपन्यास "बाकी सब खैरियत है", जब टाईप हो रहा था, तो मेरे टाइपिस्ट शर्मा जी बोले कि आपको हमारे घर के हालात कैसे मालूम पड़े? मैंने तो कभी जिक्र ही नहीं किया ...।" सच तो यह है कि इस उपन्यास में काफी कुछ मेरे निजी परिवेश का यथार्थ जुड़ा हुआ है, जो अनायास ही दूसरों का यथार्थ बन गया! बहरहाल! कहना यही है कि जब हमारा निजी सच वृहत्तर समाज का सच बन जाता है तभी साहित्य बन जाता है। साहित्य शब्द में ही तो सहित का भाव जुड़ा है। हमारे अपने सुख-दुःख भी सामाजिक आर्थिक परिवेश की उपज होते हैं। विविध व्यवस्थाओं के परिणाम होते हैं। इसलिए साहित्य हमारे समग्र जीवन का दस्तावेज होता है, जिसमें हमारे पाठक अपनी अनुभूतियों को ढूंढते, खोजते, अपने सुख दुःख का प्रतिबिम्ब पाते हैं। जिन्दगी की जटिलताएं साहित्य में खुलकर सामने आती हैं और हम उन पर सोचने लगते हैं। बड़ी बारीकी से साहित्य हमें, हमारी स्थितियों पर रुक कर सोचने को मजबूर कराता है। जीवन की यह पड़ताल, अनुभूति, विचार और संवेदन के मेल से तैयार होकर अनुकूल वाक्य संरचना में ढल कर पाठकों के मर्म को भी छूती है और सोच पर भी दस्तक देती है।

मैंने समकालीन जीवन की विसंगतियों, विघटित मूल्यों, बदलते मानवीय रिश्तों और आर्थिक-सामाजिक-राजनैतिक स्थितियों में उत्पन्न व्यवस्था के परिणामों को अपनी रचनाओं का कथ्य बनाया। जो खुद भोगा, वह भी और जो दूसरों को भोगते देख तहेदिल से महसूस किया, वह भी। कई-कई दिन और कई कई रातें पात्रों की तकलीफों-समस्याओं से घिरी मैं कहां रह पाती हूं? किसी कहानी के पात्र में बदल कर उनकी समस्याओं से गुज़रती रहती हूं। उनमें स्त्री-पुरुष दोनों होते हैं। लिंगभेद भी नहीं रहता। बस, व्यक्ति रहता है और उसकी संवेदनाएं-पीड़ाएं रहती हैं। महिला हूं, पर खुद को महिला समझ कर लेखन नहीं किया। महिला लेखन-पुरुष लेखन जैसी चीज मैं मानती नहीं। लेखन को खुद मैं स्थितियों के बीच घुसकर उनकी छानबीन समझती हूं। जीवन को जानने समझने के साथ आत्मसाक्षात्कार करने की कला भी मानती हूं। यह सही है कि कुछ रूढ़ संस्कारिता के कारण, जिनमें मेरा जन्म व पोषण हुआ, मैं जिन्दगी की कई सच्चाइयों को अनावृत करते संकुचित होती थी। परन्तु लेखन की उम्र बढ़ने के

साथ मैंने इस झिझक पर काबू पाने की कोशिश की है। हां, मैंने सैक्स को वक्ती फायदे के लिए कभी भुनाया नहीं। विषय की मांग के अनुरूप, जहां वह सहज रूप से आया, उसका वर्णन भी किया। अर्थान्तर, अन्तिम साक्ष्य, ऐलान गली ज़िंदा है, एवं अपने-अपने कोणार्क इसके गवाह हैं। मैंने लेखकीय संस्कारिता को बनाए रखने की कोशिश की और कर रही हूं। प्रेम और सैक्स जहां जीवन की अनिवार्य शर्त बन कर व्यक्ति के बाहरी-भीतरी परिवेश को विश्लेषित करने में मदद देते हैं वहां उनका ज़िक्र ज़रूर किया है, परन्तु पाठकों को उकसा कर अपनी पुस्तकों की बिक्री बढ़ाने की घटिया हरकतों से मैं हमेशा दूर रही हूं और रहूंगी भी।

अपने रचना कर्म के दौरान मैंने रचनाओं को पहले मन के भीतर पकते महसूस किया, फिर कागज़ पर उतारा, परन्तु अकसर कागज़ पर उतरने तक रचना का स्वरूप बदल जाता है। सभी कुछ जैसे ज़िन्दगी में तयशुदा नहीं होता, वैसे साहित्य में भी मैंने पाया है। कभी-कभी अपनी रचना मुझे चमत्कृत करती है और कभी निराश भी। तब मैं उसे दोबारा पढ़ती/लिखती हूं। बार-बार संशोधित करती हूं। रचना मन के अनुकूल बन जाए तो एक मुक्ति का सा अहसास होता है। तब तक मैं एक यातना के दौर से गुजरती रहती हूं। कभी-कभी इस मुक्ति के अहसास के साथ खालीपन का अनुभव भी होता है। खासकर जब आप एक लम्बी रचना पूरी अनुभव, संपन्नता से रचते हैं। यह अनुभव मुझे "यहां वितस्ता बहती है" उपन्यास पूरा करने पर हुआ शायद इसलिए कि उसकी घटनाएं, परिवेश आदि मेरे निजी सुख दुःख से काफी कुछ जुड़े हुए हैं। एक अजीब सा खालीपन था वह, जैसे आप अपना समूचा उंड़ेल कर दूसरों को सौंपकर रिक्त हो जाएं। पर देने की छटपटाहट भी इतनी तीव्र कि उससे मुक्त होना बेहद लाज़िमी। मुक्ति के बाद का यह खालीपन कुछ ऐसा जैसे अपनी प्यारी बेटी को रचे-बसे घर में ब्याह कर, आप मुक्त भी हुए हों और अन्तर तक खाली भी।

अपने लेखन के लिए मैंने कथ्य आसपास के जीवन से ही चुने, उन्हें पढ़ने की ज़रूरत पड़ी ही नहीं। क्योंकि मांग पर मैंने लेखन नहीं किया। हां, शिल्प के स्तर पर मैंने अवश्य कुछ प्रयोग किए और कर रही हूं। वह इसलिए कि रचना ज्यादा असरदार हो। खुद को पढ़वाएं, शायद इसलिए भी कि शब्दों से खेलना, और उनसे नए-नए अर्थों की सृष्टि करना भी रचनाकार की आकांक्षा का हिस्सा है। मातृभाषा कश्मीरी होने के कारण और घर-परिवार में अंग्रेज़ी का ज्यादा प्रयोग होने की वजह से मुझे भाषा सीखने में भी खासा श्रम करना पड़ा। मेरी पढ़ाई श्रीनगर में अंग्रेज़ी माध्यम से हुई, बी. ए. बी. एड. तक। पिलानी में हिन्दी विषय में एम. ए. करने की इच्छा का एक कारण यह था कि बारह वर्ष

की उम्र में जो कविता मेरे अन्दर से फूटी थी, मैं उस भीतर घटते हुए को हिन्दी में ही स्वर देना चाहती थी। अंग्रेज़ी हम कितनी भी अच्छी जानते हों, मुझे लगता है भीतर की संवेदनाओं और बाहर की जिज्ञासाओं को स्वर देने के लिए मातृ-भाषा के बाद हिन्दी ही एक सशक्त माध्यम है। इसे जानने के लिए, सीखने के लिए ज़ाहिर है, अध्ययन मनन की ज़रूरत थी। यहां हमारे पिता जी ने हमारी मदद की और हिन्दी-संस्कृत की कुछ परीक्षाएं दिलाकर हमारे लिए भाषा जानने/सीखने के द्वार खोल दिए। अब कश्मीरी और हिन्दी दोनों इतनी अपनी हो गई हैं कि दोनों में सोचना, स्वप्न देखना, एक-सा स्वाभाविक और सुखकर महसूस होता है।

कभी सोचती थी कि मैं क्यों लिखती हूं ? अब इस रास्ते से होती हुई काफी दूर तक चली हूं और यह चलना जीने का नाम ही हो गया है। किसीने कहा था कि लेखक का जीवन कुत्ते का जीवन है, लेकिन यही जीवन जीने योग्य है ? शायद फ्लाबेयर ने कहा था। पता नहीं उसने ऐसा बिन पीड़ाओं और यातनाओं के दौर से गुज़रने पर कहा था, मानसिक और आर्थिक संघर्षों को झेलते जाना था, पर इस उक्ति को मैंने कई बार शिद्दत से महसूस किया है। मुझे लगता है हर लेखक पहले-पहले भीतरी-बाहरी तनावों और अपमानों से ज़रूर गुज़रता है, कमोबेश! वह चाहे कहानियां/कविताएं संपादकों से सखेद वापस लौटने पर, चाहे प्रकाशकों द्वारा पांडुलिपियां अस्वीकार करने पर या स्वनामधन्य रिव्यूकारों द्वारा रचनाओं की छीछालेदर करने पर इसके अलावा आर्थिक अभावों से भी लेखक अक्सर परेशान रहता है, विशेषकर जब वह स्वतन्त्र लेखन की ज़िन्दगी ही जीने योग्य लगती है क्योंकि लेखन द्वारा वह उन प्रकाशकों, संपादकों और रिव्यूकारों की भीतरी बाहरी खामियों; वेचारगियों, झूठे दंभ और पूर्वाग्रहों से ही परिचित नहीं होता, अपने आप से भी सी साक्षात्कार कर लेता है। अपने इर्द-गिर्द के माहौल को विश्लेषित कर, व्यवस्था के दंश सहते आदमी की पीड़ा को वह स्वर ही नहीं देता, उसे रगों-रेशों से महसूस भी करता है। भुवनेश्वर में रहते जब मैंने "अपने अपने कोणार्क" उपन्यास की रचना की तो नायिका "कुनी" के मनोमंथन ने मुझे तमाम वक्त बेचैन रखा। एक साथ कई-कई ज़िन्दगियां जीने का जो सुख-दुःख रचनाकार के हिस्से आता है, वह उसे भीतर से कहीं बड़ा, विशाल और सहृदय बना देता है। ऐसा मेरा व्यक्तिगत अनुभव है। शायद यह भी एक कारण है कि मैंने लेखन के जीवन को ही जीने योग्य माना है। कई-कई हॉबियां रही हैं मेरी। टेनीकॉट, बैडमिंटन से लेकर ब्रिज, बागवानी, अभिनय, संगीत वाद्य, (विशेषकर वायलिन, सितार और बांसुरी) आदि। फुरसती महिलाओं को इकट्ठा कर खाली वक्त में कुछ अर्थपूर्ण करने, करवाने की कोशिशें भी की मैंने। पर अंततः मुझे लेखन में ही सुकून मिला। बकौल चार्ल्स लैब पुस्तकें ही मेरी आखिरी दोस्त बनी रहीं। जब बाहरी, भीतरी

यंत्रणाओं के ज्वार झुलसाने लगे, पुस्तकों ने मुझे चश्माशाही की ठंडी फुहारों से नहला दिया। मैं शब्द की ऋणी हूं, पुस्तकों और कलम की कर्ज़दार हूं। बहुत कुछ शायद अभी नहीं कर पाई, पर जो भी लिखा अनुभव और अनुभूति के ताप में तप कर लिखा, जो कुछ शिद्दत से महसूस किया, उसे पाठकों के वृहत्तर वर्ग के साथ शेयर कर लिया। आसपास जो तेजी से घट रहा है, बदल रहा है, उसे समझने और समझाने की आकांक्षा ही नहीं रही मेरी, उस बदलाव के प्रभाव को झेलते व्यक्ति की पीड़ा को स्वर देते मैंने उनकी मुक्ति की आकांक्षा भी की है। सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक व्यवस्थाओं के अद्भुत मानसिक यातनायें आम जन को किस हद तक तोड़ देती हैं, इसका ज़िक्र मेरी कई कहानियों में आया है। विशेषकर कश्मीर के परिवेश पर लिखी ताज़ा कहानियों/कविताओं में। काली बर्फ, वितस्ता का ज़हर, किस्सा गाशकौल आदि कहानियां लिखते मैं कई कई दिन थकी, उदास और पस्त रही। संस्कार जन्य विश्वासों को टूटते बिखरते देख, इन्सानियत के बदलते चेहरों में भेड़ियों की शक्लें उभरते देख, मन में पतले भ्रम ही नहीं टूटते, मानवीय रिश्तों के कोमल तंतु भी रेशा-रेशा बिखरने लगते हैं, तब उन्हें संभालते, उन रेशों को फिर से उठाने जोड़ने की कोशिशें करते काफी हिम्मत से काम लेना होता है। रचनाकार केवल वर्तमान को ही आईना नहीं दिखाता, एक बेहतर भविष्य की कामना भी करता है। इसीलिए आज के बदलते माहौल में भी, जब कश्मीर की पावनस्थली, प्रेम और भाईचारे की बेमिसाल धरती, भाई-भाई के खून से रंग गई है, मैंने "नवशीन मुबारक" जैसी कहानी रची। मैंने खून-खराबे में भी इंसानियत के चेहरों को ढूंढा है, क्योंकि वे वहां मौजूद हैं। मैं मानती हूं, तमाम कड़वाहट और निराशा के बावजूद आपसी प्यार और समझदारी की बची-खुची मिसालें ही हमारी उम्मीद थी। राजनैतिक/आर्थिक कारणों से आज कश्मीर धर्मोन्माद और खूनखराबे का अड्डा बन गया है। कल्हण, गनी, सर्फी, हब्बाखातून, महजूर और ललदेद की धरती से कश्मीर का एक वर्ग उम्रों के घरौंदों से निष्कासित होकर टैंटों, शिविरों और झुग्गी झोंपड़ियों में शरण लेकर देश के प्रति वफादारी की कीमत चुका रहा है। अपने घर के इन परदेसियों के दुःख को स्वर देने के लिए तो कई महाभारत और रामायण लिखने होंगे। रचनाकार उनकी रोज़मर्रा की ज़रूरतों, ज़िल्लतों और कष्टों से उन्हें मुक्ति नहीं दे सकता, पर उनकी तकलीफ को स्वर देकर देश के कर्णधारों को चेता तो सकता है कि इधर देखो, अपने आसपास। न्याय के अलमबरदारो, ज़रा सोचो, इन निष्कासित बच्चों को तुम कौन सा भविष्य दे रहे हो?

दुःख है, कष्ट, आतंक, अनिश्चय की कांतरें। पर हमें इस अनिश्चय के दलदल में नहीं फंसना है, इससे बाहर निकलने की कोशिश करनी है। और अपने लेखन के माध्यम से मैं यही कोशिश करती हूं। रुको, सोचो, इन्सानियत के चेहरे

को सुधारने, संवारने की कोई तो कोशिश करो। लेखक यही करता है। दूसरे का दुःख भोग कर उसे कोई तसल्ली, जीने का संबल देने की कोशिश। यातना के साथ जीना उसकी नियति है। वह समाज से जितना लेता है, उससे ज्यादा लौटाता है। कश्मीर मेरी जन्म स्थली ही नहीं, वहां की धूल-मिट्टी पर मेरे आड़े मेड़े पांवों के निशान हैं, मेरे बचपन और यौवन की बेशुमार यादें हैं। उनसे दूर होना मुमकिन है पर कट जाना बेहद दुष्कर और तकलीफदेह है। इस स्थिति को भी मैं झेल रही हूं। अनेक बंधुओं के साथ।

पहले बहुत लिखती थी, रात के दो-दो बजे तक। वह लिखना स्वतः प्रस्फुटित तो था ही, पर आलोचकों की मार से भी लापरवाह था। अब अपने भीतर भी कोई आलोचक यदा कदा सिर उठाकर चेताता है। गारसिया मारकोस को आलोचकों से चिढ़ है क्योंकि वे, उनके कहे, लेखक और पाठक के बीच अवरोध उत्पन्न करते हैं, जबकि उन्हें लेखक-पाठक के बीच पुल का काम करना चाहिये। बाहर के आलोचकों, समीक्षकों से इतना ही कहना है कि पूर्वाग्रह छोड़ कर लेखन-पाठन के बीच पुल का काम कीजिए। कर सकें तो ठीक, अन्यथा समीक्षा छोड़ कर कोई दूसरा धन्धा कीजिए। जोड़-तोड़, धौल-मुक्का, उठा-पटक से साहित्य को बख्शना ही दानिशमंदी है। अपने भीतर का आलोचक, अलबत्ता कभी अच्छी रचनाएं करवाता है। फिर भी सच यही है कि कोई भीतरी प्रेरक शक्ति ही हमसे रचनाकर्म करवाती है।

ज़िन्दगी सीधा रास्ता नहीं है, किसी के लिए भी नहीं। मेरे लिए कैसे हो सकता था ? फिर भी यह सच है कि मैंने हर प्रकार की पारिवारिक-सामाजिक और मानसिक स्थिति में अपने लेखन को ज़िंदा रखने की कोशिश की। या शायद लेखन ने ही मुझे हर स्थिति से उबरने की ताकत दे दी। गृहस्थी के दायित्व निभाते मैंने सृजन किया। लेखिका होने के दंभ में मैंने आम महिलाओं से कटने या दूर रहने की कोशिश कभी नहीं की। घर बनाते ईंट रोड़ी ढोते मज़दूरों से भी मैं उसी तरह सीखती रही जिस तरह विद्वानों, बुज़ुर्गों के अनुभवों से। गलत का मैंने सदा विरोध किया, घर में भी, बाहर भी। यहां तक कि बनिये के कम तोलने और दूध वाले के दूध में पानी मिलाने पर भी मैंने नाराज़गी ज़ाहिर की। घर में बच्चों-बुज़ुर्गों से लेकर सामने पार्क में फूल तोड़ते बच्चों को भी सही गलत पर टोका। नतीजा तो खैर यही निकला कि अमुक महिला तेज़ हैं, गुस्से वाली हैं, कहीं शायद सिरफिरी और बेअदब भी। लेकिन आज तक वही आदतें बनी हैं। मेरे पिता जी प्रोफेसर पंडित भी गलत को घटते देखकर मुंह बंद नहीं रख पाते थे। शायद स्वभाव की यह हरकत उन्हीं की विरासत हो। "एक चुप सौ सुख" वाली कहावत मुझे बहुत गलत लगती है। खुद को अलग रख कर तमाशा देखने वाले लोग, सड़क पर गलत काम होते देखकर, रोकने के बदले

चुपचाप खिसक कर तटस्थ दिखते लोगों को मैं सह नहीं पाती। यह मेरी अपनी सीमा भी हो सकती है और शक्ति भी।

अभी तक छ: कथा संकलन, छ: उपन्यास और एक कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। लिखना चल रहा है। संस्मरण, यात्रा वर्णन, लेखादि भी लिखती हूं पर कथा साहित्य की ओर ज्यादा रुझान है। संवेग की तीव्रता के अनुरूप कविताएं भी लिखती हूं। अपनी बात दूसरों को किस तरह असरदार तरीके से कहूं, इसके लिए विधा खुद मुझे रास्ता दिखाती है। लेखन क्यों, कैसे, किस तरह की चिंतायें मुझे नहीं सतातीं। न लिखने के कारण हमारे परिवेश में अगर कहीं मौजूद हैं तो लिखने के लिए भी तमाम कारण यहीं कहीं बिखरे हैं। अपने लेखक को ज़िंदा रखने की ज़रूरत है। खुद को सुधारने और संवारने की ज़रूरत है। इसी निरंतरता में रचनाकार का सुख भी है और सलामती भी। अंतत: रचना ही लेखक की पहचान कराती है। बहस-मुबाहसे कहीं वक्ती फायदा करते भी हों पर ज्यादातद ध्यान ही बंटाते नज़र आते हैं।

मेरी रचनाओं पर समीक्षकों ने ज्यादा गौर न किया हो पर पाठकों ने बेहद ईमानदारी से मुझे अपनी राय/प्रशंसा/सलाह दी है। उनके ढेरों ढेर आत्मीय पत्र मेरा पुरस्कार हैं, हर लेखक की भांति। मैं अपने पाठकों की बेहद शुक्रगुज़ार हूं।

इस प्रकार 1967, सितंबर से आज तक मेरा मेरा लेखन चल रहा है। अनेक पुस्तकें अनूदित हुईं, तीन चार पुरस्कृत भी। "ऐलान गली ज़िंदा है", "यहां वितस्ता बहती", "अपने-अपने कोणार्क", "अर्थान्तर", "अन्तिम साक्ष्य", "बाकी सब खैरियत है", "पोशनूल की वापसी" पर विभिन्न पुरस्कार मिले, सबसे बड़ी बात तो यही कि पाठकों के वृहत् समुदाय ने इन्हें खूब पसंद किया। मुझे मेरा असली पुरस्कार मिल गया।

लेकिन जहां लेखन ने मुझे हज़ारों पाठकों का निश्छल स्नेह व आत्मीयता दी, वहीं मेरे बेबाक लेखन के कारण कई आत्मीय जन मुझ से दूर हो गए। वह शायद हर सच बोलने वाले की सज़ा है जिसे मुझे भी भोगना पड़ रहा है।

साहित्य व्यक्ति को बेहतर इन्सान बनाता ही है पर सामाजिक परिवर्तन का कारण कहां तक बनता है, इसका उत्तर मुझे यूनेस्को के घोषणा पत्र में नजर आता है। जहां लिखा है कि "युद्ध मनों में लड़े जाते हैं और मनों में ही उनका समाधान खोजा जाता है।" साहित्य इस मन को ही तो प्रभावित करता है, सोच को दिशा देता है। तो कहीं कोई सूक्ष्म सा बदलाव भी यहीं जन्म लेता है। पर यह सत्य है कि साहित्य का प्रभाव बहुत धीमा पर असरदार होता है। अंकल टॉम्स केबिन पढ़ कर तो अब्राहम लिंकन ने लेखिका एलिजाबेथ स्टो के बारे में कहा था कि "इस नाटी औरत ने अमेरिका को हिला कर रख दिया। एलिजाबेथ

ने तो दासों के जीवन का दर्द उभारा था अपनी कृति में। कालान्तर में दास प्रथा के उन्मूलन का एक कारण बन गया वह उपन्यास। बहरहाल खुद पर लौट आते इतना कहना शेष है कि मेरी कथा यात्रा अनेक अवरोधों के बीच से गुज़री है, जिसका जिक्र करना ज़रूरी नहीं। यही क्या कम है कि पहाड़ी झरने सी यह यात्रा, रास्ते के तमाम ढोक-चट्टानों के बीच गुज़रती, अभी भी बह रही है। मेरे पिता प्रोफ़ैसर रामचन्द्र पंडित ने रूढ़ नैतिकता और अन्धविश्वासों का डटकर विरोध किया। वे लेखक भी थे। यद्यपि उन्होंने अपनी कविताएं नहीं के बराबर प्रकाशित कीं, परन्तु मैं सोचती हूं, कुछ तो मुझे उनकी विरासत मिली ही होगी।

मुझे अच्छे प्रकाशक मिले। यह संयोग की भी बात है और शायद मेरे लेखन ने भी उन्हें निराश नहीं किया। अपने हिस्से का संघर्ष तो मैंने भी किया क्योंकि गॉडफादर बनाने में कभी विश्वास नहीं रहा। परन्तु जो भी मिला उससे मैं भी निराश नहीं हूं, सन्तुष्ट भले ही न होऊं। एक बात आपसे कहूं कि मुझे "सन्तोष" शब्द से थोड़ी चिढ़ भी है। सन्तोषी व्यक्ति संघर्ष के द्वार अजाने ही मूंद लेता है, जो मेरे जाने गलत है। लेखन तो जीवन की तरह यात्रा है, उसके तमाम खतरे उठाना ज़रूरी है। मैं अपने ढंग से यह खतरे उठा रही हूं और सामाजिक-आर्थिक शोषण के बीच जीते आम जन की पीड़ा को स्वर देती हूं। कारणों की पड़ताल कर मनुष्य की मुक्ति के रास्ते तलाशती हूं। कश्मीर से राजस्थान, फिर आन्ध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, दिल्ली, उड़ीसा और फिर दिल्ली—हरियाणा की देहरी पर आ गई हूं। अपनी रचनाओं में मैंने विभिन्न प्रान्तीय रंगों, लोक बिम्बों को संजोया-संवारा है। विदेश यात्राएं भी कीं, वहां के अनुभव कहानियों में संजोए। एक लेखिका होने के नाते मैं जीवन और लेखन के प्रति समान रूप से प्रतिबद्ध हूं। बेहतर जीवन की कामना और उसके लिए रास्ते तलाशना, ढूंढना ही मेरा सरोकार है। मैं जानती हूं कि लेखक बनाना हमारे हाथ में नहीं है, पर लेखकीय दायित्व निभाना हमारी जिम्मेदारी है।

अपने भीतर की बात तो रचनाकार अपने पात्रों के माध्यम से ही करता है। उसकी सोच उसकी व्यथाएं, चिन्ताएं सभी लेखन में ही निहित होती हैं, फिर भी अपने बारे में थोड़ा बहुत कह दिया है। कश्मीर जैसी सुन्दर प्रकृति-प्रिय वादी में जन्म लेना हर किसी के भाग्य में नहीं होता, मैं उन भाग्यशालियों में हूं जिन्होंने वहां जन्म ही नहीं लिया, वहां के पर्वतों, पानियों, चीड़, देवदार और झीलों पर झुके बेंत वृक्षों की कतारों को अपनी रगों रेशों में उतरते महसूस किया। आज भी पहाड़ मुझे जीने का संबल देते हैं, लहलहाते पेड़ तपते तन, मन को सुकून का साया और झीलें मेरे अन्दर उदार तरल विस्तार भर देती हैं। आज भी मुझे मुहम्मद जू की याद आती है जो घर का नौकर होने के बावजूद

मेरे लिए "काका" "बाबा" बन गया था। जिसकी जेब में आज भी मेरी और मेरे भाई-बहन की सांझी तस्वीर पड़ी है, जिसे मैंने 'पोशनूल की वापसी' में याद कर अपना ऋण उतारने की कोशिश की है। बदलते हालात में अपनी ज़मीन से बिछुड़ने का दु:ख मुझे भी उतना ही सालता है जितना किसी भी निष्कासित को। आज भी मैं पचास पार के बाद, आंख बन्द करके उस छ: सात वर्ष की कलन्दर बालिका को अपने भीतर मौजूद पाती हूं जो "वुरपश गांव" की आड़ी मेढ़ी, घासीली पगडंडियों पर हवा से होड़ लेती भाग रही होती है, मन में अनन्त जिज्ञासायें लिए, प्रश्न लिए, आज भी मैं अनेक अनुत्तरित प्रश्नों के उत्तर खोज रही हूं, बराबर......।

□

बहिरंग

डॉ० कश्मीरी लाल

साहित्य एवं समाज के संदर्भ में प्राय: कहा जाता है कि ये दोनों अन्योन्याश्रित संकल्पनाएं हैं। दोनों ही एक दूसरे को प्रभावित, मार्जित व संचालित करती हैं। एक अच्छा कथाकार या कोई भी रचनाकार कल्पना, प्रतिभा और अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न होता है और इस नाते उसकी रचनाओं में अपने समाज व समाजशास्त्र की महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियां, विवरण व विश्लेषण विद्यमान रहते हैं। इस रूप में साहित्य में समाज का पुनर्निर्माण होता है। साहित्यिक समाज को समाजशास्त्र का पुनर्निर्माणीकरण मानते ही साहित्यकार की अभिभूमिका (Role) स्मरण हो आती है। साहित्यकार जो भी रचता है, वह उसकी आंख, मन व मस्तिष्क में से होकर ही कागज पर रूप ग्रहण करता है। यदि ऐसा न होता तो साहित्यिक कृति और समाजशास्त्रीय लेख में कोई अन्तर न रह जाता।

महिला कथाकारों अथवा उनके द्वारा रचित संसार का अध्ययन करने से पूर्व एक बात स्पष्ट कर देना अनिवार्य होगा कि भारतवर्ष में महिलाओं के साथ कम अत्याचार नहीं हुआ बल्कि आज भी हो रहा है। पुरुष समाज ने मध्ययुग में आकर तो उसे इतना निरीह व दीन-हीन बना डाला कि उसे अपने अस्तित्व तथा अपने द्वारा सृजित इस जगत् (पुरुष-सापेक्ष) पर ही शंका होने लगी। नियम बनाते समय व परम्पराएं-प्रथाएं तय करते समय नारी से राय लेना एक हीनता माना जाने लगा। फलत: नारी का जीवन निरन्तर शोषणमूलक होता चला गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद नारियों को यह तथ्य मालूम हुआ कि वे भी पुरुषों के समान अधिकार व अस्तित्व रखती हैं तो उन्हें विश्वास नहीं आया। आ तो आज भी नहीं रहा है परन्तु ज्ञान-विज्ञान की प्रगति, प्रचार माध्यमों, समाजशास्त्र-नेत्ताओं, सिनेमा व साहित्यकों ने उसे थोड़ा बहुत आत्म-विश्वास अवश्य दिया। महिला लेखन में स्वभावत: यह पहलू सक्रिय है कि उसमें महिलाओं की प्रतिनिधि होकर महिलाओं के हित में सोचा जा रहा है। परन्तु

इसका अर्थ यह कदापि न लेना चाहिये कि केवल महिला ही महिला का दु:ख सोच सकती है—समझ सकती है। पुरुष लेखकों व सिने कलाकारों ने भी उसके दु:ख को समझा-समझाया है। परन्तु जिस गति व जिस रूप में महिलाओं ने लिखना-कहना प्रारम्भ किया है—वह परम्परा से थोड़ा हटकर है। नूतन है परन्तु अवांछित तो कदापि नहीं।

चन्द्रकांता के कथा साहित्य में आज के भारत (सन् 1950 के बाद) का जो समाजशास्त्रीय मानचित्र मिलता है, वह नारी-जीवन तथा उससे जुड़ी अंगतियों, विसंगतियों, विडम्बनाओं, असहमतियों, टकरावों, छटपटाहटों, रुग्णताओं, पीड़ाओं व करुणार्त्त पुकारों का हवाला देता है। यह हवाला शब्दों तक ही सीमित नहीं है अपितु दृश्यों, बिम्बों व चित्रों को अग्रप्रस्तुत करने की सीमा तक जाता है। एक विशेष आंख से समाजशास्त्रीयता की पहचान करके उसके आयामों के बारे में कुछ नयी सोच व सुबोध परिकल्पनाएं दे पाना चन्द्रकांता के कथालेखन में प्राय: देखा जा सकता है। यथार्थमूलक पहलू और उनका विश्लेषण यहां स्थान स्थान पर मिलेगा।

अन्धविश्वासों व अनर्गल रूढ़ियों—जिनकी समाज के संदर्भ में कोई प्राणवान या सार्थक उपादेयता नहीं है—को लेकर हमारा परंपरित समाज—विशेषकर मध्यवर्ग—अधिक पीड़ित हुआ है, शोषित हुआ है। आज भी 'सिद्धि का कटरा' जैसी कहानियां कहीं न कहीं घट ही जाती हैं जहां बलि के संदर्भ में अंधविश्वास को तो मान्यता दी ही जाती है और सिद्धि जैसी नारियों को पागल करार दिया जाता है। उससे हमारा समाज संभवत: यह आशा करता है कि वह अपने तनुज देवा की बलि को भूल जाए। उसके ममत्व को पहचानने की जगह बूढ़ी पांडो जैसी नारियां भी यही कहती हैं—"सिद्धि पर देवी आ गई है।"[1] इस समाज में सदियों पुरानी मान्यताओं व गले-सड़े मूल्यों को आंख मूंदकर स्वीकार किया जा रहा है। आज भी विधवा स्त्री को जीने व रहने का सम्मान-मूलक अधिकार नहीं दिया जा रहा और उनका मुंह देखना भी अधर्म समझा जा रहा है।[2] मुर्ग खाना म्लेच्छ-क्रिया समझी जा रही है।[3] चीनी-मिट्टी के प्यालों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है।[4] स्टोव पर पका खाना पाचन के लिए उचित नहीं होता। भूत-प्रेतों के विषय में इतनी मान्यताएं व कहानियां किस्से फैलाए जाते हैं कि अच्छा-भला सामाजिक डर पाल बैठे।[5] 'निपूती' लच्छी को भरे

1 ओ सोनकिसरी, पृ० 28
2 ऐलान गली जिंदा है, पृ० 38-39
3 पूर्ववत्, पृ० 50
4 पूर्ववत्, पृ० 134
5 पूर्ववत्, पृ० 30, 121

समाज में अपमानित किया जाता है और नज़र उतारने के अवसर पर उसे पेट दर्द का बहाना बनाकर दूल्हे की दस्तारबंदी से पहले ही घर लौट आना पड़ता है।[6] उस बेचारी को तरह तरह के पारलौकिक भय दिखाकर उसके निस्संतान होने के दुःख को त्वरित किया जा रहा है।[7]

ऐसी स्थितियां प्रेमचंद-युग से ही देखने में आ रही हैं और आज भी कहीं न-कहीं किसी-न-किसी रूप में सक्रिय हैं। लेखिका ने इन प्राणहीन रूढ़ियों व पाखंडपूर्ण धारणाओं का चित्रण करते समय विश्लेषण भी किया है, प्रभाव-ग्रहण भी और प्रतिरोधात्मक व्यंग्य भी। इस उपक्रम में एक टकराव उत्पन्न होने लगता है। विरोध गंधाने लगता है।

धर्म, सम्प्रदाय व नियति के संदर्भ में चन्द्रकांता के सामाजिक अत्यधिक रूढ़ हैं। धर्म की संकल्पना मानव के लिए की गयी थी परन्तु हमारे समाज ने धर्म के लिए मानव की संकल्पना को महत्त्व देना उचित समझ लिया। आदमी के मान सम्मान व उसकी जान तक का इस धर्म के संदर्भ में कोई विशेष मूल्य नहीं। निहाल भाई जैसे प्रबुद्ध लोगों के माध्यम से लेखिका ने इस स्थिति के अंत का आह्वान किया है—"प्यार से सींचे माहौल से लावे की तरह फूटती इतनी नफरत, इतनी हिकारत कोई कैसे सह पायेगा? वे समझने की कोशिश करते हैं पर समझ नहीं पाते कि ...।[1] उधर धर्म के ठेकेदार संसार चन्द जैसे लोग मन्दिर का चढ़ावा चुराकर घर ले आना अपना धर्म समझते हैं और लोगों को धार्मिक होने का उपदेश देते फिरते हैं।[2] यहां लेखिका ने ऐसे धार्मिक (?) पाखंडियों पर कटु विश्लेषणात्मक दृष्टि डाली है।

एक सम्प्रदाय का दूसरे सम्प्रदाय के साथ यूं तो मेल हो सकता है परन्तु कुछ दूरियां तय मानकर। शुभी के साथ यही तो हो रहा होता है तो वह अपना आत्मनिर्णयात्मक रूप दिखाती है। उधर साम्प्रदायिकता के नशे में चूर सिर फिरे सामाजिक इसे हिन्दू-मुस्लिम रंगत देकर एक स्कैण्डल खड़ा कर देने पर तुल जाते हैं।[3] चौबीस-पच्चीस वर्षीया शुभी को इन साम्प्रदायिक लोगों ने अवयस्का घोषित कर दिया। परन्तु दीवानपुत्री शीलबाला और चीफ इन्जीनियर अकबर का विवाह इन मुहल्लेदारों को इसलिए कबूल हो गया कि यह एक ऐसा मामला

---

1 पूर्ववत्, पृ० 100

2 पूर्ववत्, पृ० 94

3 ओ सोनकिसरी, पृ० 60

4 ऐलान गली, पृ० 30

5 पूर्ववत्, पृ० 153

था जिससे दो ऊंचे घराने जुड़े थे—सम्प्रदाय अलग हुए तो क्या ? इसी प्रकार का संदर्भ विरासत जैसी कहानियों में भी मुंह बाए खड़ा दिखाई देगा ।

नर-नारी संबंधों का विवेचन चन्द्रकांता ने नई कथाओं में किया है । उनकी कथाओं में परंपरित पारिवारिक अनाचार भोग रही नारी भी विद्यमान है और आर्थिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए घर और बाहर के बीच असहज तादात्म्य बैठाती कामकाजी गृहिणी भी । प्रेम में पुरुष के आगे समर्पिता होकर प्रवंचन-पीड़ा सहती अबला भी है और आत्मनिर्णय लेने वाली आत्मविश्वास की प्रतिमूर्ति सबला भी । शुभी को अनचाहा मातृत्व देकर कुलदीप मानो अपने आप को उस दृश्य से हटाना ही कर्त्तव्य मान लेता है। शुभी ने जो स्पर्श-साहचर्य गुलाब-गुलचीनी के झुरमुट में बैठकर, तन-मन बौराने वाली महक से सराबोर होकर अनुभूत किया था, उसी का मूल्य चुकाने वह अपनों तथा अपनों के अभिजात्य को तिलांजलि दे, मवालियों के बीच रहने को विवश होती है ।[4] कुछ ऐसा ही नाटक मृणाल से भी हो रहा है ।[5] यह अलग बात है कि उसका शोषण शुभी की तरह एक बार नहीं अपितु नित्यप्रति होता है—शारीरिक रूप में उतना न सही परन्तु मानसिक व भावनात्मक रूप में कहीं अधिक । वह सक्सेना के आतंक और अपनी तथा अपने प्रेमी योगेश की नौकरी की सुरक्षा के बीच एक कड़ी के रूप में कसमसा रही है—छटपटा रही है। वह सोचती है, "क्या भेड़िया ऐसे ही हंसता है ?[1] सक्सेना की हंसी उसे भेड़िये की स्मृति दिलाती है। नारी को आनदोपभोग का माध्यम बनाने का यह मध्यकालीन चलन सक्सेना जैसे पुरुषों में आज से युग में भी प्रचलित है । नारी यहां विवश है, अशक्त है, निरीह है । वह मौन होकर सहे जाती है क्योंकि बार-बार प्रवंचिता नहीं होना चाहती ।

'पत्थरों के राग' कहानी की नायिका सोनल एक प्रतिभा संपन्न आत्म-निर्भर व आकर्षणयुक्त युवती है जो 'गाईड' का काम करते हुए काम-संवेदनामूलक युग्लों की मूर्तियां दिखाते समय तो कभी नहीं डगमगाई परन्तु सतीश का अपनत्व-पूर्ण प्रेमताप न सह सकी । वह उस आकर्षण को प्रेम समझ बैठी । उसे पता ही न चला कि कब यह भला इंसान मन के मनाही वाले कक्ष में साधिकार प्रवेश कर गया । उसने अनायास ही खुद को देने का मन्त्र सीख लिया । वह संहिताएं भूल जाती है और आत्मसम्मान की रक्षा करते करते प्रेम के दैहिक धरातल को भोगने लगती है । परन्तु शीघ्र ही उसे पता चलता है कि सतीश उसके तन व मन से खेल रहा था । अपने 'बिज़नेस ट्रिप' को 'प्लेज़र ट्रिप' बनाना चाहता था ।

---

1 ग़लत लोगों के बीच, पृ० 18
2 पूर्ववत, पृ० 38
3 ओ सोनकिसरी, पृ० 23

प्रवंचिता होकर उसे पता चलता है कि उसके भीतर कुछ ढह गया है। इस युवती को घर में भी बहनों के दायित्व के नाम पर त्याग से काम लेना पड़ा और बाहर आकर भी प्रवंचना व शोषण की करुण त्रासदी बनना पड़ता है। जैसे वह मौसी के शब्दों को जी रही हो—"इस लड़की ने देना ही जाना है।"[2]

'कल के लिए' कहानी की नारी में आक्रोश की प्रबलता है परन्तु सहन करने की ताकत भी कम नहीं। वह लाख गुस्सा करे, जाएगी कहां ? गुस्सा पीकर बच्चियों को लेकर सोचती है—"मर्द सभी चाम के लोभी ! पद्मी के बापू के साथ पांच एक साल कटे हैं, मोह भी हो गया है। फिर जहां भी रहे, उसकी जात-औकात वालों को तो हाड़ ही तोड़ना है।[3] भारत की नारी कितनी दुःखिनी हैं, यह 'बस उतना ही' कहानी पढ़कर पता चलता है—"किसी जन्म में लड़की बनोगे तो मालूम पड़ेगा कि हिन्दुस्तान में लड़की होना कितनी बड़ी सजा है।[4] पुरुष की प्रकृति देखिए कि वह हर हालत में पत्नी के नाम पर एक पूर्ण समर्पिता, एकनिष्ठ व पतिव्रता युवती को चाहता है। बात पर 'वीमेन्स लिब' की याद दिलाने वाली स्वच्छंद संस्कारहीन लड़की नहीं।[5]

यहां औरत होना निश्चय ही दुर्भाग्ययुक्त है। यहां ऐसे कसाई उपस्थित हैं जो बारह वर्ष की मीना को पचास साल के रंडुवे के पल्ले बांध देते हैं।[1] यहां अंधी दौड़ में हांफते-भागते लोग खूंखार पशु बनकर हर सज्ञा खो देते हैं। शेष रह जाता है एक लपलपाती भूख, जिसमें स्त्री महज एक औरत रहती है, मां, बहन, बेटी, सभी सम्बन्धों से परे, एक भोग्य शरीर मात्र।[2] यहां विवाह के लिए जो एक बार मंडप चढ़ गयी, उसका दूसरी बार हाथ थामने वाला विरला ही कोई मिलेगा—वह भी जगन जैसा।[3] यहां पति की भूमिका अदा करने वाला जगन महज एक दलाल का चरित्र रखता है।[4] उधर 'अर्थान्तर' की स्त्री अनुभव करती है—"मां ने शायद अपनी समझौतावादी प्रवृत्ति से किसी समस्या को जन्म ही न लेने दिया, तभी इस मौन समझौते को स्वीकार नाम दे डाला जिस स्वीकार में स्वतन्त्र अस्तित्व को गिरवी रखकर रिश्ते निभाने की सजा भुगतनी पड़ती

---

1 पोशनूल की वापसी, पृ० 86
2 ग़लत लोगों के बीच, पृ० 38
3 पूर्ववत्, पृ० 63
4 पूर्ववत्, पृ० 32
5 अंतिम साक्ष्य, पृ० 16
6 पूर्ववत्, पृ० 16
7 पूर्ववत्, पृ० 19
8 पूर्ववत्, पृ० 22

है। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से बने-बनाए नियमों में आबद्ध हम संबंधों की लाश ढोने को अभिशप्त क्यों हो जाते हैं ?"[5] पारुल अपने औरत होने पर अत्यंत छोटापन महसूस करती है। चूल्हे के पास बैठी खट रही इस औरत को खीझ, कुढ़न और अपमान की यातना के सिवाय क्या मिल रहा है ?[6] उपन्यास के अन्तिम चरण में आकर भी उसके भीतर बियावान फैल जाता है। वह सोचती है—बच्चू इतना दूर कैसे हो गया ! ऋता की आवाज़ इतनी अजनबी क्यों है ? यह जो सहरा में पानी की चमकीली धार दिखाई देती थी, वह क्या मृगतृष्णा ही थी......।[7] रामप्यारी जैसी युवतियों ने अपने प्रति होते अत्याचार व अमानवीय व्यवहार के प्रति विद्रोहात्मक स्वर भी उठाए हैं परन्तु वह बच नहीं सकी। रत्नी जैसी औरतें उसे भाग्य का हवाला देकर चुप रहने की सीख देती हैं।[8]

बदलते समय के साथ ही साथ जीवन मूल्य व संदर्भ भी बदल रहे हैं। लेखिका ने प्रासंगिकता का प्रश्न कई स्थानों पर उठाया है। परिवर्तनधर्मिता के नैरन्तर्य व उसके मार्ग में उठते-उभरते टकरावों और असहमतियों को स्वाभाविकतायुक्त अभिव्यक्ति दी है। संस्कृति व संस्कारों को ओढ़ने-बिछाने वाले पात्रों तथा नयी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करने वाले युवाओं के बीच पनपते टकराव, अलगाव तथा असंगति को उजागर किया है। लेखिका ने समाज का ध्यान पुरातनयुगीन-ह्रास की और आकर्षित किया है। सच्चा व्यक्ति यथार्थ की सम्पूर्णता के आधार पर सृजन करता है और उसके लेखन में भविष्य अतीत की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक एवं मर्मपूर्ण होता है। चन्द्रकांता ने अपनी कथाओं में सांस्कृतिक ह्रास अथवा नवीन विचारधाराओं के फूटते-बढ़ते पल्लवों को चित्रित किया है। एक ओर प्राचीन पीढ़ी के लोग हैं जो मानव मूल्यों व संस्कारों (अच्छे या बुरे) को उपयोगितावादिता के समक्ष अधिक वरीयता देते हैं और दूसरी ओर नयी पीढ़ी की उमड़ती भीड़ है जिसमें प्रवंचक हैं, दलाल हैं, गुंडे हैं, अफसर हैं, फैशनप्रस्त हैं और उपभोग से महत्त्व देने वाले सामाजिक हैं। पुराण-पंथी का मुकाबला परिवर्तनवादी से पड़ रहा है। यहां जीवनदायी चिकित्सक कम मिलेंगे और पैसे लूटने वाले अधिक। रोगी भले-ही मर जाए।[1] परन्तु धनार्जन-प्रक्रिया की बाढ़ कम न हो। नौकरी चाहिये तो कुछ 'मालपानी' अवश्य

---

1 अर्थांतर, पृ० 167

2 बाकी सब खैरियत है, पृ० 25

3 पूर्ववत्, पृ० 141

4 ऐलान गली ज़िंदा है, पृ० 120

5 गलत लोगों के बीच, पृ० 26

देना पड़ेगा।[2] यदि प्रोमोशन चाहिये तो कुछ सिफारिश लाज़िमी है। नहीं तो कोरा आश्वासन हाथ लगेगा।[3] स्वकेन्द्रण की प्रवृति और पर-जीवीपन इस युग में अधिक बढ़ा है।

आप कितने ही बड़े क्यों न हों—प्रकाशकों की दुत्कार, उदासीनता, लोलुपता व प्रवंचना से नहीं बच सकते।[4] अलग अलग इन्तज़ार में बदलने का इन्तज़ार हो रहा है। यहां उपभोगवादी दृष्टि के प्रतिरोध में एक ओर बदलाव की करुण कामना है।[5] 'साउथ एक्स की सीता' शीर्षक कहानी में भी सामाजिक अन्तर्विरोधों को तथा नये दृष्टिकोण की अस्वस्थता को देखा जा सकता है जहां आकर मनुष्य और वस्तु में कोई खास अन्तर नहीं रह गया।[6] इसी लिए शचि जैसी आधुनिकाएँ अपने मम्मी-पापा की ज़िंदगी जीना नहीं चाहती।[7] वह नारी स्वातंत्र्य को महत्त्व देती है न कि पुराणपंथी उस सोच को, जिसमें स्त्री मात्र सती-सावित्री परिकल्पित होती है। नयी पीढ़ी का विश्वास जाति-धर्म से भी ऊपर प्रेम को महत्त्व देता है—मानवता को मानता है—यही उसकी विरासत होगी अपनी संतान के नाम।[8]

लच्छी ने अपने सम्पूर्ण ममत्व सहित नाथा को गोद लिया है क्योंकि वह पुत्रवती कहलाने की सोच रखती है। उधर नाथा नयी पीढ़ी का वह निर्मोही जीव है जो भावनाओं की अपेक्षा द्रव्य को महत्त्व देता है। उसे केवल वारिस बनना स्वीकार है, पुत्र हो सकना कतई सहन नहीं।[9] अवतारे जैसे पात्र जनेऊ पहनने को एक दिक्कत मानते हैं। यहां प्रण को प्राण से अधिक महत्त्व नहीं मिलता बल्कि तिजोरी को प्राणों से अधिक हक हासिल है। यहां पुराणपंथी पात्र एक हिचकिचाहट से भरे हुए हैं। पुराणपंथी के लिए संपत्ति, सुरक्षा, सुविधा व शक्ति की महत्ता सर्वोपरि है। इसीलिए वह इनसे किसी भी दशा में अलग नहीं होना चाहता। आज के संदर्भ में यह महत्त्वपूर्ण पहलू है। पास पैसा नहीं है तो यहां तन के जाए भी शत्रुवत् व्यवहार करेंगे। रामनाथ जैसे लोगों का पीढ़ी की

---

1 पूर्ववत्, पृ० 155

2 पूर्ववत्, पृ० 130

3 ओ सोनकिसरी, पृ० 99

4 पूर्ववत्, पृ० 133

5 पोशनूल की वापसी, पृ० 26-27

6 पूर्ववत्, पृ० 81

7 पूर्ववत्, पृ० 100

8 ऐलान गली ज़िंदा है, पृ० 111

सोच के कारण ही अपने बहू-बेटों से तालमेल नहीं हो पाता।[1] 'लड़खड़ाते पुल' कहानी का वातावरण भी इसी प्रकार का है।[2] उधर 'नागपाश' का समीर कहता है—"जनरेशन गैप, क्या समझाया जाए इन बुजुर्गों को? बेकार के झंझट पालेंगे, और अच्छे भले दूसरों की भी जान आफत में।[3] उधर 'हिमांत' कहानी की जया भी जानने लगी है कि उसके किसी निर्णय से समझौतों के आदी उसके माता-पिता टूटेंगे नहीं।[4] पढ़ने-पढ़ाने का व्यवसाय करने वाले मास्टर भी संस्कारों में जकड़े हुए हैं और अपनी कन्या का जीवन नष्ट किए जा रहे हैं।[5] इसीलिए कैलाश कहती है—"यह भी हमारे समाज का रोग है मीना! माता-पिता तमाम उम्र बच्चों की खुशियां चाहते हैं, पर ऐन वक्त परम्परागत विश्वास और रूढ़ नैतिकताएँ उन्हें जकड़ लेती हैं। वे खुद को आसानी से मुक्त नहीं कर पाते।"[6] 'अर्थांतर' की कम्मो के प्रसंग में भी यही विचार क्रियाशील हैं। उसे व्यक्ति के बहुधर्मी अस्तित्व को सोच-सोचकर विस्मय होता है। यह करे तो क्या करे?[7] औरत स्वयं को अलग-अलग खानों में विभक्त कर कैसे जी सकती है? लेखिका से यहां नारी-मन को टटोला है।

पीढ़ियों के दृष्टिकोण में जो अन्तर आ चुका है और आ रहा है—उसे लेखिका ने विभिन्न स्तरों पर उद्घाटित किया है। नैतिकता, प्रेम, प्रथाएं—सब कुछ नये अर्थ ग्रहण कर रहे हैं। नैतिकता को तो आज का आदमी ताक में रख कर चल रहा है। न चरित्र में नैतिकता और व ही व्यवसाय में। प्रेम का अर्थ भी बदल रहा है। यूं तो मध्यकाल से हो पुरुष के लिए प्रेम की भाषा और थी और स्त्री के लिए और। पुरुष अपने अनेक जीवन मूल्यों में से एक जीवन मूल्य के रूप में प्रेम को ग्रहण करता है जबकि स्त्री के लिए यह समूचा अस्तित्व होता है। वह प्रेम करती है तो स्वयं को पूर्ण समर्पिता होकर—भूलकर। परन्तु पुरुष उद्दाम क्षणों में भी पूर्णतः समर्पित नहीं होता। 'पत्थरों के राग' शीर्षक कहानी के सतीश-सोनल इसका प्रमाण हैं। सतीश का मत है—"मैं प्यार के बारे में कुछ नहीं जानता। कामकाजी आदमी हूं।[8] यहां प्रश्न उठता है कि क्या प्रेम

1 गलत लोगों के बीच, पृ० 48

2 पूर्ववत्, पृ० 113-114

3 पूर्ववत्, पृ० 86

4 पूर्ववत्, पृ० 78

5 ऐलान गली ज़िंदा है, पृ० 63

6 अन्तिम साक्ष्य, पृ० 38

7 अर्थान्तर, पृ० 157

8 ओ सोनकिसरी, पृ० 18

बेकार लोगों का ही शुगल है ? तथापि सोनल उससे प्रेम करती है तो वैध-अवैध लांघ जाती है। परन्तु उसे क्या पता था कि उसके प्रेमी की जगह एक व्यापारी भी बैठा हुआ है जो हर रिश्ते को व्यापार ही समझ बैठता था। ऐसी स्थितियां अवतारे दिव्या प्रसंग में भी देखी जा सकती हैं जहां पुरुष शादी के संदर्भ में अपनी ओर से अनिश्चितता व्यक्त करता है। परन्तु दिव्या उम्मीद नहीं छोड़ती—स्त्री जो है न ! कहती है—"मेरे भीतर उम्मीद भी है। मैं वक्त का इन्तजार करूँगी अवतार।"[1] कितनी विचित्र बात है कि पुरुष जब भी किसी नारी की ओर बढ़ता है तो न मां-बाप से अनुमति मांगता है, न समाज से। परन्तु जब नारी को पूर्णत: ग्रस लेता है तो उसे माता-पिता, संप्रदाय, वंश, समाज स्मरण आने लगता है।

भावों को अभिव्यक्ति देते समय चन्द्रकाता का समाजशास्त्रीय अवलोकन अत्यन्त सजग रहता है। तथापि वे लेखकीय दृष्टिकोण व्यक्त करने से नहीं चूकतीं। उनकी स्त्री समाज के अंकुश के विषय में कहती है—"जो (समाज) तुम्हारा अकेलापन नहीं बांट सकता, उसे तुम्हारे छोटे-छोटे सुखों में दखलअंदाजी का भी अधिकार नहीं।"[2] समाज में रहता मनुष्य विशेषकर पुरुष—असंतुष्ट ही रहता है। बलदेव से लेखिका कहलवाती है—"दरअसल जिसे जो मिलता है, वह उसकी कद्र नहीं करता।[3] इसी प्रकार 'एक बार सही' में कहलवाया गया है—"एक उम्र होती है जब साथी की ज़रूरत महसूस होती है, बाकी तो सब समझौता ही है......।[4] लोग दुहरा-तिहरा जीवन जी रहे हैं। सम्बन्धों में दिखावटीपन अपेक्षाकृत अधिक गहराने लगा है। इन सब में नारी ही अधिक उत्पीड़न की उपभोक्ता ठहरी है। भले ही यह उत्पीड़न पुरुष की उदासीनता, असहिष्णुता, आतंक-अत्याचार आदि से उपजा हो या सासरूपी नारी के द्वारा ढाए जा रहे परंपरित पारिवारिक अनाचार से। धार्मिक उन्मादों में भी नारी को ही अपमानित होना पड़ता है। वह कभी दहेज़ के कारण अत्याचार भोग रही हो तो कभी अपनी अ-सुरक्षा के खिलाफ सुरक्षा छू सकने के उपक्रम में। वह जी नहीं रही अपितु जी सकने की आशा में तिल-तिल करके मर रही है—जल रही है।

चित्रण-शैली की दृष्टि से चन्द्रकांता को काव्यात्मक विम्बमयता, दृश्यमानता व चित्रात्मकता का कौशल प्राप्त है। उनकी कई कथाओं तथा 'ऐलान गली ज़िंदा है' में परिवेश एक मूर्त्त, इन्द्रियगोचर वातावरण व परिस्थिति भी है ; साथ ही

---

1 ऐलान गली ज़िंदा है, पृ० 177
2 ओ सोनकिसरी, पृ० 24
3 पूर्ववत्, पृ० 88
4 गलत लोगों के बीच, पृ० 120

समग्र जीवन्त व्यक्तित्व भी। यथार्थमूलक वर्णन के साथ सर्वथा काल्पनिक जैसे स्वर में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि अत्यंत सघन काव्यात्मकता उभरने लगती है। 'ग़लत लोगों के बीच' शीर्षक कहानी का एक संदर्भ दृष्टव्य है—"जांघों तक साड़ियां पलटाये, बीच आँगन छप्-छप् कपड़े धोती कुछ जवान छोकरियां।[5] इसी प्रकार के कुछ और उदाहरण उनकी अलग-अलग कथाओं में देखे जा सकते हैं। यथा—आंखों की दराजों में झांक, कोई मन के किसी कोने में, मनाही वाले सीन देख रहा है।[1] मेरे मुंह पर अनचाहे भावों के गिरगिट रंग बदलने लगते हैं।[2] किसी क्रुद्ध ऋषि की शापदृष्टि से पत्थर हुए कामातुर प्रेमी युगलों में प्राणों का संचार हो जाता है।[3] खुले गले के नीचे महकती घाटी में लगा था कि फिसलकर गिरता ही जायेगा।[4] किसी अनाड़ी के हाथों खिंची टेढ़ी-मेढ़ी लकीर-सी सड़क।[5] एकाध बार किसी की परछाईं दरवाजे के पास डोली, धीमी-सी हंसी खनकी, ज्यों कई छोटे-छोटे घुंघरू छन-छन बज उठे हों।[6] आवाज़ें सप्तम पर पहुंचतीं। लगता, कहीं फायर-ब्रिगेड की घण्टियां दनादन बजने लगी हैं। महिला मण्डल साइरन सुनकर यों छितरा जाता ज्यों किसी नटखट बच्चे ने मधुमक्खियों के छत्ते को ढेला मार कर तितर-बितर कर दिया हो।[7] यह सोच कर उसके भीतर शूल-सा उठता कि सीमा उस लम्बी नाक और पिलपिले थोबड़े वाले पांच फुटी बनिये को प्यार करने पर मजबूर हो गयी होगी जिस के जिस्म से हींग-मसाले जैसी या उससे मिलती-जुलती कोई परचूनी गंध उठती होगी।[8] इस प्रकार की चित्रमयता कथाभाषा के संदर्भ में एक उपलब्धि है क्योंकि इसमें गत्यात्मकता, स्थैतिकी, बिम्ब-ग्रहव, सांकेतिकता आदि सभी कुछ सिमट आया है। केन्द्रीकृत प्रभावों—गहन अवसाद, तीक्ष्ण विषण्णता, अलगाव, प्रवंचन, असंगति, उत्पीड़न को इस चित्रात्मकता द्वारा कभी निकटस्थ रूप में देखा जा सकता है तो कभी दूरस्थ दृश्यवत्। कभी चलचित्रवत् और कभी स्थिर-चित्रों (Stills) की तरह।

---

1 पूर्ववत्, पृ० 13
2 ग़लत लोगों के बीच, पृ० 146
3 पूर्ववत्, पृ० 140
4 ओ सोनकिसरी, पृ० 7
5 अंतिम साक्ष्य, पृ० 126
6 पोशनूल की वापसी, पृ० 72
7 ऐलानगली ज़िंदा है, पृ० 47
8 पूर्ववत्, पृ० 51
9 बाकी सब खैरियत है, पृ० 77

शब्द-नियोजन, शब्द-प्रयोग व शब्द संयोजन की दृष्टि से लेखिका आधुनिक पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करती है। जहां बोलचाल की भाषा में-पद, प्रस्थिति (स्टेटस) व व्यवसाय आदि के शब्दों का अपनाव वर्जित नहीं है। मकैनिकल, बिट्स, डिसटिंकशन, प्रेक्टिकल, सेंसिबल, एडजस्टिंग टाइप, गाउन आदि ऐसे ही प्रयोग हैं। उर्दू, फ़ारसी के शब्दों के साथ-साथ लोकभाषा के शब्दों को भी यथास्थान व यथापात्र प्रयुक्त किया गया है। सूत्रवाक्यों तथा सूक्तियों का भी प्रयोग हुआ है। विश्लेषणात्मक, वर्णनात्मक, पूर्वदीप्ति (फ्लैश बैक) तथा उत्तारक शैली (आत्मकथ्यदीय) का प्रयोग अधिकतर हुआ है। उनका साहित्यिक समाज आज के सामाजिक यथार्थ के अत्यंत निकट जान पड़ता है क्योंकि उन्होंने भाव तथा अभिव्यक्ति के स्तर पर समाज-सापेक्षिक दृष्टिकोण अपनाया है।

...और एक संवेदनशील, जिम्मेदार लेखिका से परे और...सबसे पहले वह एक महिला हैं।

कश्मीर की ज़ाफरानी हवाओं में लहराने के गर्व से पूरित चीड़ की नुकीली पत्तियों लदी लचीली डाल सी चन्द्रकांता...

अखरोट की सी रंगत लिये, ऊपर से कठोर, दबंग और अन्दर से एक खास कचहरे कसैलेपन के बावजूद, सीधी-सच्ची आत्मीयता की कोरी कच्ची दूधिया मिठास से रची बसी हुई हैं वे।

विदेश से लौट रहे बेटे के लिए, पल्लू से प्लेट पोंछती, हाथ में संडासी लिए सुलगती आंच पर गुलफुली रोटी सेंकती, बहू की साड़ी पर लेस के फूल जड़ती, बैंजनी साड़ी का पल्लू कमर में खोंसे पौधे सींचतीं, मेहमानों के लिए कहवे में इलायची बादाम बुरकती, दामाद की थाली में भात के साथ नदरू, शलजम का साग परोसती, पति की कमीज़ में बटन टांकती......

और फिर...अकेले में बिस्तर पर लमसीध होकर वितस्ता की लहरें गिनतीं-गिनतीं...इस उम्र में भी बेटी को बहन मानने में शायद संकोच करें... चन्द्रकांता...

अंतरंग

डॉ॰ अशोक जेरथ

सितारे टूट कर एक लम्बी रेखा बनाते हुए कहीं अदृश्य हो जाते हैं इन्हें पुच्छल तारे की संज्ञा दी जाती है और इन सितारों को देखना अच्छा नहीं समझा जाता। बचपन में जब भी ऐसा कोई सितारा आकाश से गिरते हुए देखता तो उत्सुकता रहती थी कि यह कहां जाता है ? ऐसे कई सितारों को देखते मां से एक दिन पूछा तो उसने बड़े सहज भाव से कहा था "इनका पुनर्जन्म होता है, किसी न किसी घर में। ये दुबारा पैदा होंगे और अगर मरने के बाद स्वर्ग गये तो फिर सितारा बनकर चमकेंगे।" सब बड़ा अद्भुत लगता। मैंने ऐसे कितने ही सितारे अपने मन में समो लिए थे और एक एक कर उनका स्थान भी निश्चित कर लिया कि कब कौन सा सितारा कहां टूटा ? वर्ष बीत गए हैं पर आज भी वह सब याद है। धुंधली सी एक और याद...एक बहुत छोटा बालक सांझ ढलते ही अपनी मां का आंचल पकड़कर घिघियाता था, 'तुसीं मैंनू मंजा डाह् देओ, बछा देयो, थापड़ देओ ते मैं आपे सौं जावांगा' तो मां बड़े दुलार से उसे कहती थी कि सब कुछ तो मैं करूंगी फिर तुम 'आपे किस तरह सोवोगें' तो वह बालक समझ नहीं पाता था कि मां ऐसा क्यों कह रही है ? आज जब पीछे मुड़कर देखता हूं तो मन कसकने लगता है कि कैसे अच्छे दिन थे न कोई चिन्ता न कोई मलाल ही था मन में। पता नहीं कैसे वे दिन हाथों से फिसल गए। घर के पास एक बहुत बड़ा बेरी का पेड़ था जिस पर सारा वर्ष बेर लगे रहते पर हमने कभी उन्हें पकते हुए नहीं देखा था यूं कहें कि कभी पकने नहीं दिया। जब भी वे थोड़े पीले होते हम उन्हें तोड़ लाते। मेरे साथ मेरे दो साथी अक्सर इकट्ठे ही इस मुहिम पर होते और जो बेर इस तरह तोड़कर इकट्ठे किये जाते उनकी ढेरियां बनाकर आपस में बांट लेते और अगर कोई बेर फालतू होता तो उसे मास्टर के नाम फेंक देते। मास्टर यहां का मालिक था जो खड्डी पर कपड़े का काम करता था। जब भी हमें बेरी पर चढ़ा हुआ देखता तो बांस से सारी बेरी को हिला डालता था और हम भागते हुए पास वाले कोठे की छत से होते हुए लौट आते थे। इन सब घटनाओं का विश्लेषण करता हूं तो पाता हूं कि कहीं पर भी साहित्य से वास्ता नहीं था। हां, जब दूसरी कक्षा में पढ़ना शुरू किया तो मां मुझे सुखसागर पढ़ाया करती थी। यह सिलसिला

वर्षों तक चला । छटी कक्षा तक पहुंचते-पहुंचते एक और आदत ने आ घेरा। जासूसी उपन्यास पढ़ने का ऐसा चस्का पड़ा कि अपनी सारी पढ़ाई छोड़कर जासूसी उपन्यास पढ़ने में ही सारा वक्त जाया कर दिया करता । उन दिनों ऐसी अनेक दुकानें खुली हुई थीं जहां ये उपन्यास किराये पर मिलते थे। कई बार बड़े भैया को यह पता लग जाता कि असल में जो पुस्तक मैं पढ़ रहा हूं वह पढ़ाई की नहीं अपितु उपन्यास है। तो ऐसी डांट पड़ती थी कि आज तक वे शब्द वैसे ही बने हुए हैं। लेकिन चाह कर भी उपन्यास नहीं छूटे। उनका अक्स मेरे मानस पटल पर खुभता चला गया। फिर अनेक बार मन में अनेक प्रश्न भी उभरते थे कि इन्हें लेखक कैसे लिख लेते हैं? बहुत सी घटनाएं काल्पनिक होतीं, इन्हें इन घटनाओं का कैसे पता चलता था? आदि जिज्ञासायें मन में उभरने लगीं थीं कि सहसा एक दिन अपनी कल्पनाओं को साकार करने में लग गया। तब मैं दसवीं का छात्र था कि दो तीन कहानियां लिखकर पूरी कर डालीं पर मैं मन ही मन अति कुण्ठित भी था कि पता नहीं जो कुछ मैंने लिखा है वह प्रकाशन के योग्य है भी कि नहीं। आसपास कोई लेखक भी नहीं था कि जिससे मंत्रणा कर पाता। पर चूंकि शुरू से ही स्वाभिमानी प्रवृत्ति का रहा हूं शायद यह भी कारण रहा होगा कि किसी से कोई मंत्रणा नहीं की और दो कहानियों को प्रकाशन के लिए भेज दिया। आज वहुत प्रयास करने पर भी नहीं स्मरण कर पा रहा हूं कि ये कहानियां कहां भेजी थीं पर इतना जानता हूं कि उनमें से एक कहानी जब स्थानीय प्रैस में छपी एक पत्रिका में प्रकाशित हुई तो मैं उक्त पत्रिका के उन पन्नों को छपते छपते ही प्रैस से उठा लाया था और मन्दिर की सीढ़ियों पर बैठकर तीन चार बार पढ़ गया था। आज जब पीछे मुड़कर देखता हूं तो बड़ा आश्चर्य होता है कि ऐसा उस में क्या था कि बार बार पढ़ने का मन करता था और इतनी आत्मतुष्टी उस प्रथम रचना के प्रकाशन ने मुझे दी थी कि आज वह तुष्टी राष्ट्रीय स्तर की पत्रिकाओं में प्रकाशित होकर भी नहीं पाता हूं। यह मेरा प्रथम प्रकाशन था। उसके बाद तो लिखने की चाह बलवती होती गई। कालेज में आकर कालेज की पत्रिका का सम्पादन भी किया। इन दिनों डिवेटर होना और कालेज की पत्रिका में सम्पादक होना बड़ी बात थी। विरले ही इन कार्यक्रमों में आगे आ पाते थे और हमारा दखल दोनों में था। इस तरह धीरे धीरे साहित्य में रुचि लेने लगा। बाद में बी० एड० कालेज में भी "द' टीचर" का सम्पादन किया और डिबेट्स में खूब बढ़ चढ कर भाग लिया। उन्हीं दिनों जम्मू की कुछ साहित्यिक संस्थाओं से भी जुड़ना हुआ जिनमें से हिन्दी साहित्य मण्डल प्रमुख है। मण्डल के माध्यम से अनेक हिन्दी लेखकों से परिचय हुआ और साथ ही हर गोष्ठी में नया कुछ लिखकर लाने की बात भी प्रेरणा का स्रोत बनी। इस तरह लेखन में एक क्रम से विकास होने लगा।

अक्सर लेखन-बद्ध प्रक्रिया से बहुत से लोग जुड़ते हैं। उर्दू शायरी में तो

गुरु धारणा की एक परम्परा है ही, हिन्दी कवियों में भी उपनाम रखने की एक परम्परा रही है। लेकिन हमारे लिए न हो कोई गुरु बन सका और न ही हम कोई उपनाम ही धारण कर सके। पर कुछ लोग हमारे जातिगत नाम जेरथ को ही उपनाम समझकर "जयरथ" की संज्ञा से हमें पुकारने लगे तो हमें अपना यह उपनाम भाने लग गया। सोचा चलो इसी बहाने से उपनाम रखा गया है तो अच्छा ही लगा है

शुरू शुरू में कहानी लेखन खूब भाता था। अस्सी के दशक तक पहुंचते पहुंचते अनेक कहानियां प्रकाशित हो चुकी थीं। जागृति, मधुमति, हरियाणा संवाद, दैनिक ट्रिब्यून, योजना, शीराज़ा, डुग्गर समाचार आदि पत्र पत्रिकाओं में निरन्तर छपना हुआ। बाद में कविता, लेख तथा अनुसंधान पर भी काफी कार्य हुआ। उपर्युक्त पत्र पत्रिकाओं के अलावा कादम्बिनी, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, आजकल, हिमप्रस्थ, सोमसी, पंजाब सौरभ, उत्तर प्रदेश, नन्दन, बाल भारती, संस्कृति, पहाड़, आज, स्वतन्त्र भारत, दैनिक जागरण, अमर उजाला, जनसत्ता, दैनिक हिन्दोस्तान, नवभारत टाईम्ज आदि पत्र पत्रिकाओं में निरन्तर छपना हुआ। हिन्दी के अलावा अंग्रेज़ी में भी अब काम करना शुरू कर चुका था और धीरे धीरे मेरा लेखन क्षेत्र विस्तार पाने लगा। रचनात्मक लेखन के साथ साथ स्वतन्त्र पत्रकारिता में भी लिखना शुरू कर चुका था। इस बीच नौकरी के दौरान अनेक स्थानों पर जाना हुआ। कभी एक नौकरी तो कभी दूसरी। बंगाल, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश का उतरांचल क्षेत्र और हिमाचल का पूर्ण क्षेत्र खूब भाया। खासकर हिमालयी संस्कृति तो मानों अन्तरग मित्र बन चुकी थी। अतः इस प्रवास के दौरान कुमाऊ, गढ़वाल के पिण्डारी और कफनी हिमानियों की साहसिक यात्रायें भी कीं, पिथौरागढ़ के अनेक स्थानों को देखना हुआ, कौसानी, रानीखेत, अल्मोड़ा, नैनीताल, भीमताल, गरुड़, बैजनाथ, जोशीमठ, बद्रीनाथ, और भारतीय सीमा पर तिब्बत की ओर अन्तिम गांव माणा के अनुभव इतने आश्चर्यों से भरे हैं कि आज तक उन्हें जीवन्त घटनाओं की तरह मन में संजोए हूं। एक घटना आज भी नहीं भूलती। अल्मोड़ा में स्थित सैनिक अनुसंधान केन्द्र के निदेशक जोशी जी का अचानक एक दिन आकाशवाणी केन्द्र में फोन आता है कि मुझे तुरन्त उनके साथ बद्रीनाथ और औली जाना है। मुझे जाने का अदम्य उत्साह था लेकिन जब तक केन्द्र निदेशक न कहें ऐसा सम्भव नहीं था। पर जोशी जी ने बड़े उत्साह के साथ कहा कि आपका हमारे साथ जाना तय है अतः आप दूसरे रोज प्रातः गांधी चौक पहुंच जायें। मैं अनमना हो आया था कि शायद ही मुझे वहां जाने की अनुमति मिले लेकिन सायं स्वयं केन्द्र निदेशक साहिब ने मुझे बुलाकर कहा था कि मैं नहीं चाहता था कि कोई वरिष्ठ अधिकारी इस अभियान में उनके साथ जाये। किसी को भी वहां रिकार्डिंग के लिए भेजा जा सकता था पर कोई तैयार नहीं हो रहा अतः अगर

आप उचित समझें तो चले जायें। इस तरह हम उनकी जीप पर सवार होकर अल्मोड़ा से प्रात: जोशी मठ के लिए रवाना हो गये। हमारे साथ जोशी जी के तांत्रिक गुरु श्री श्री 108 महाराज आरण्य साहब भी जीप में सवार थे—लम्बा डीलडौल, खुला माथा, बड़ी बड़ी आंखें और सर पर पटका बंधा था। उनका शारीरिक रूप तो प्रभावित करने वाला ही था पर उनका हिमालयी संस्कृति पर अध्ययन अभूतपूर्व था। वे हिमालय की शृंखलाओं पर उगने वाली अनेक औषधीय बूटियों को पहचानते थे जिनका ज़िक्र अब केवल हमें पुस्तकों में ही मिलता है। संजीवनी बूटी और जिस बूटी से सोमरस प्राप्त होता है उसकी कई किस्मों को वे पहचानते थे। लेकिन सबसे बड़ी खूबी उनमें यह थी कि शास्त्रों का बहुत ज्ञान था। जोशी मठ का एक दिन का सफर उनसे बातें करते सहज ही कट गया और बहुत आनन्द आया। रात्रि को जोशी मठ में ही सैनिक चौकी पर हमारा ठहरने का बन्दोबस्त था। खाने के पहले उन्होंने आधी बोतल 'चरणामृत' लिया और पल भर में ही उनका रूप बदल गया। बड़ी बड़ी आंखें बाहर आ गयीं लगती थीं और चेहरा सुर्ख हो गया था। अचानक मुझे सामने पाकर वे उबल पड़े "ओ कश्मीरी तुम मुझ पर विश्वास नहीं करते, तुम्हारे मन में ईश्वर के प्रति अविश्वास है, याद रखो तुम्हें और हमें इसका परिणाम भुगतना पड़ेगा। तुम्हारा हमारे साथ होना ही इस बात का प्रमाण है।" मुझे अच्छा नहीं लगा और इसके पहले कि मैं कुछ कहूं मेरा हाथ जोशी साहब ने पकड़ कर दबा दिया और इसका संकेत किया कि मैं चुप रहूं। मैं मन मसोस कर रह गया कुछ भी नहीं कह सका। फिर मन ही मन अपने को कोसने लगा कि नाहक क्यों चला आया। उद्विगन मन में किसी तरह रात कटी और प्रात: जब उन पर दृष्टि गई तो देखा कि वे सहज भाव से पूजा पाठ में निमग्न थे। पूजा के बाद बड़ी आत्मीयता से मिले और बद्रीनाथ के लिए हमारा सफर शुरू हुआ। रास्ते में खूब खुलकर बातें भी होने लगीं तो मैंने उनसे पूछा कि ऐसा क्यों हो जाता है कि साय को वे पूर्णतया परिवर्तित हो जाते हैं? तो उन्होंने बड़े सहज भाव से उत्तर दिया कि प्रात: मुझ पर शक्ति का प्रभाव होता है जबकि सायं मैं काल भैरव का उपासक होता हूं। अत: हो सकता है कि मैं शाम को अपने आप में न रहा हूंगा। मैं चाहकर भी इस पहेली को सुलझा नहीं सका। पर शीघ्र ही अनेक घटनायें एक एक करके सामने आईं और सारा मामला साफ हो गया। दोपहर तक हम श्री बद्रीनाथ पहुंचे। गर्म पानी के चश्में में खूब खुलकर स्नान किया गया। यह अक्तूबर का प्रथम सप्ताह था। अत: खूब सर्दी पड़ रही थी पर नहाने से मन खूब खुल गया था। दर्शन किये और वहां से चलते समय दूर कहीं ढोलक की थाप और मंजीरों की सुर लहरियों ने बांध लिया पता चला कि भारत का तिब्बत सीमा से लगा अन्तिम गांव है माणा जहां देवस्थल के कपाट बन्द होने जा रहे हैं। वहां एक बहुत बड़ा

अनुष्ठान था। यहां पहुंच कर सब कुछ बहुत अद्भुत लगा। स्त्रियां-पुरुष, बालक, युवक, वृद्ध सभी छंग की मस्ती में स्थानीय संगीत की धुनों पर नाच रहे थे और एक लाट पर चढ़ाकर घंटाकर्ण देव को भी नचाया जा रहा था। वापिसी में तान्त्रिक ने इस अद्भुत देव की कथा सुनाई जो अपने में और भी अद्भुत थी। पर जो बात अत्यन्त अद्भुत लगी वह थी तांत्रिक महोदय का विश्वास कि घंटाकर्ण देव के दर्शन करने चूंकि वे नहीं जाते थे। अत: उन्हें इसका परिणाम भुगतना पड़ेगा और इस प्रक्रिया में मैं उन्हें बचा पाऊंगा। वापिसी पर हमें औली जाना था—वर्फ के खेलों का संसार। रास्ते में तांत्रिक महोदय ने कहा कि "मैं घंटाकर्ण देव का आभास पा रहा हूं।" तो हमारी गाड़ी अचानक रुक गई। ड्राईवर हैरान था कि गाड़ी को बहुत सम्भाल कर चला रहा हूं और चैकअप भी किया था गलती कहां हो गई? पर दूसरे रोज सुबह भी एक करिश्मा देखने को मिला। हम हिमालय के दिव्य दर्शन कर रहे थे कि मेसवाले ने अपनी मुरुण्डा बड़ी ट्राफी को हमारे सामने फेंक दिया था जो किसी अमानवीय शक्ति का ही कार्य हो सकता था। रात्रि चलते हम शमशान के पास रुक गये थे जहां तांत्रिक महोदय ने अनेक चमत्कार दिखाये जो आज तक नहीं भूलते।

सरितायें जब बहती हैं तो इनका जल अनेक प्रकार की अशुद्धियों को साथ लेकर चलता हुआ भी शुद्ध होता है। सब नकारात्मक आस्थायें मात्र बहाव में आनी वाली अस्थिरता का अंजाम होती हैं। जीवन में बहाव आना अर्थात् परिवर्तन होना स्वाभाविक ही नहीं आवश्यक भी है। अक्सर यह सोच मन पर हावी हो जाती है कि जो लोग एकांगी विचारधारा के होते हैं वे किस तरह इस अद्भुत जीवन को जी पाने में समर्थ होते हैं। अपना कार्यकाल अध्यापन से शुरू हुआ था। केन्द्रीय विद्यालय में जहां लगभग दस वर्षों तक कार्य किया लेकिन संतुष्टी नहीं थी। वहां से कालेज़ में प्राध्यापक के तौर पर चार वर्षों का कार्यकाल अभाव में बीता क्योंकि केन्द्रीय विद्यालय में तनखवाह ज्यादा थी और मैं कम पैसों पर कालेज में आया था बड़ा कठिन समय बीता लेकिन कहीं भी अपनी अर्धांगनी की ओर से कोई मलाल नहीं आने दिया। मैं उनका आभार आज तक नहीं भूल पाया हूं। कालेज और विद्यालय के माहौल में जमीन आसमान का फर्क है। कालेज के छात्र वैसे भी स्वछंद प्रवृत्ति के होते हैं और उनके लिए अनुशासन का बंधन कोई मायने नहीं रखता लेकिन इसके बावजूद उधमपुर डिग्री कालेज में अपने कार्यकाल के दौरान जो सकून और सम्मान मैंने पाया है उसे कदापि नहीं भूल पाऊंगा। इस माहौल को बनाने में उस समय के प्रधानाचार्य प्रो० जी० पी० सिंह का बहुत बड़ा योगदान रहा है। उन्होंने विषम परिस्थितियों में भी कालेज में एक साहित्यिक वातावरण पैदा कर दिया था और हमने कालेज में ही एक हिन्दी कवि गोष्ठी का आयोजन

किया था जिसमें तत्कालीन कुलपति प्रो० दूबे का प्रोत्साहन और प्रेरणा हमें खूब मिली। कालेज छोड़ना मुझे अच्छा नहीं लगा पर परिवर्तन का भी अपना एक सुख होता है। और उस सुख से मैं वंचित नहीं होना चाहता था। अत: आकाशवाणी में कार्यक्रम अधिकारी के तौर पर जब नियुक्ति पत्र मिला तो मन में अनेक दुविधाएं थीं कि कालेज की नौकरी छोड़ूं कि नहीं ? इस उहापोह में अनेक दिन निकल गये तो श्री लसा लताल, जो उन दिनों जम्मू केन्द्र में कार्यरत थी ने बुलवा भेजा। उनके साथ बहुत आत्मीयता रही है। उन्होंने एक तरह से मेरा "ब्रेन वाश" किया और मैंने उसी समय दुविधा को त्यागकर आकाशवाणी की नौकरी अपना ली। यद्यपि बाद में बहुत पश्चाताप हुआ क्योंकि इस नौकरी में कई तांत्रिक विसंगतियां थीं। अब केवल छटपटाहट बाकी बची थी। धीरे-धीरे बड़ी कठिनाई से अपने आप को उस माहौल में ढाल सका। पर आज भी जब पीछे मुड़कर देखता हू तो कालेज में बिताए दिन लौट लौट आते हैं।

कालेज में एक रोज़ लैक्चर देते हुए लगा कि छात्रों का ध्यान पढ़ाई की ओर न होकर कहीं और केन्द्रित है। अचानक देखा प्रो० जी० पी० सिंह प्रिंसीपल साहब कक्षा के बीच में बैठे हैं। अच्छा नहीं लगा। लेकिन जैसे तैसे लैक्चर खत्म हुआ तो बुलावा आ पहुंचा पता चला कि प्रिंसीपल साहब को किसी ने कह दिया था कि इनकी कलास में लड़कियों के कारण विज्ञान के छात्र भी आ बैठते हैं। इस ओर एक बार उन्होंने संकेत भी किया था पर मैं टाल गया था। शायद उस रोज़ यही पता करने वे स्वयं कक्षा में आ पहुंचे थे। बाद में अपने कार्यालय में बुलाकर बहुत गंभीर स्वर में वे बोले "मैं आपकी कलास में था।" "मुझे पता है"—मैंने कहा। पर अन्दर से थोड़ा विचलित था कि अगर कुछ कहा तो मेरी ओर से कोई प्रतिक्रिया अवश्य होगी। पर यह क्या ? वे खिलखिल हंसने लगे थे—"भाई मज़ा आ गया, जैसा सुना था वैसा ही पाया, मुझे कहा गया था कि आपकी कलास में विज्ञान के छात्र भी आ बैठते हैं। मैंने उनसे जब पूछा तो उन्होंने आपके लेक्चर को सराहा था कि मात्र आपको सुनने वहां आते हैं पर मुझे कुछ दूसरी ही सूचना मिली थी। अत: बिना आपके कहे मैं आपकी कलास में चला आया था। आपका लैक्चर सुनकर तो भाई मजा आ गया।" मैं सहज हो आया था। वर्ष बीत गए हैं इस घटना को हुए पर अभी भी मानसपटल पर बिछी है।

आकाशवाणी में आने पर कार्य बढ़ गया था अत: लिखना पढ़ना कम हो गया। लेकिन जो कार्य अनुसन्धान का कालेज के समय शुरू किया था

वह आकाशवाणी में आकर ही सम्पन्न हुआ। विषय थोड़ा कठिन था—मनोवैज्ञानिक कथा साहित्य में उभर रही एक शैली—'चेतना प्रवाह धारा' t प्रो० जी० पी० प्रसाद के मार्ग दर्शन में अथक प्रयास सफल हुआ। बाद में डा० संसार चन्द्र जी का आर्शीवाद भी मेरे लिए मेरे प्रशंसाओं, शुभेच्छुओं का भी गुलदस्ता बन गया।

लिखने के लिए कहींकोई प्रेरणा ज़रूर चाहिए: जिसे बहुत सोचकर भी तलाश नहीं कर पाया। अपने छात्र काल में कोई स्रोत ऐसा नहीं रहा—बहुत स्मरण करने पर भी याद नहीं। हल्की फुल्की मित्रता अनेक लोगों से रही है—मेरे मित्रों में अक्सर सिक्ख ज्यादा रहे हैं और उसी अनुपात में सिख्ख लड़कियां भी। उनके साथ खूब खुलकर अनेक विषयों पर चर्चा होती थी। एक बार हम सभी क्लास से खिसककर रुस्तमें-सोहराब फिल्म देखने गए थे। मेरी जेब में कोई पैसा नहीं था उन सब ने मिल कर प्रबन्ध किया तो मन में इतनी कुण्ठा हुई कि दूसरे रोज उस लड़की को ढूंढने निकला जिसने मेरे पैसे दिए थे। जब मैंने उसे पैसे लौटाये तो वह खूब हंसी—"बुद्धु कहीं के।" मैं चाह कर भी समझ नहीं सका कि उस ने ऐसा क्यों कहा पर बाद में वह काफी अंतरंग हो आई थी।

मेरी किताब में कुछ गुलाबी पृष्ठ भी हैं जिन पर अनेक रंगीन हरफ टंके हैं। जहां तक मुझे याद है पहला पन्ना उस समय जुड़ा जब मैं पढ़ाई खत्म कर रहा था पर नियति भी ऐसी बनी कि न ही पढ़ाई खत्म कर सका और न ही इन रंगीन पन्नों का जुड़ना बंद हुआ। पहली कुछेक पहचानें किशोरावस्था के धरातल पर थीं अत: अन्दर की सुगबुगाहट के अलावा कुछ न था। कालेज के लान में घण्टों बैठे बतियाते रहना और भविष्य के सुनहरे ताने बाने बुनना ही एक मात्र कार्यक्रम था पर शीघ्र ही मोह- भंग हो आया था। वस्तुत: घर की परिस्थितियों ने बचपन को किशोरावस्था में ही बूढ़ा कर दिया था। हर समय अपने कैरियर की चिन्ता मानसपटल पर सवार रहती। पर मन तो फिर मन ही है कहीं न कहीं राह ढूंढ लेता। मुझे एक ऐसे साथी की तलाश थी जिससे मन की बात भी की जा सके और मानसिक तौर पर भी जुड़ा जा सके। इस खोज में अनेक सोपान अनायास ही तय करने पड़े। अनेक लोगों से वास्ता पड़ा, अनेक सुखद और दुखद स्थितियां जुड़ती गईं अन्तत: जुड़ा भी उससे जिसे सारे ब्रह्मांड की तलाश थी। अनेक सितारे उसकी लौ को पाने के लिये कसमसाते रहते और वह आकाश गंगा सी उनमें लहकती लहराती थी। पर हमें एक अद्भुत मोह का प्रवाह बांधे रखता। वर्षों हम एक दूसरे से बंधे रहे। हर छोटी मोटी बात की चर्चा होती, हर रचना मैं पहले उसे सुनाता बल्कि उसे लेकर भी अनेक रचनायें लिख डालीं। पता नहीं फिर क्या हुआ

कि हममें सन्देह ने घर कर लिया। आज बहुत दिनों के बाद सोचता हूं तो लगता है कि वस्तुतः उसे किसी और घरौंदे की तलाश थी और मैं एक ही खूंटी से बंधा नहीं रहना चाहता था। या यूं कहा जाये कि संशय की दीवार से रिश्ते की आहट को कई दिनों तक महसूस करता पत्थर हो गया था। पर उससे क्या होता है दस्तक की आवाज़ ही हम तक पहुंचती है दस्तक देने वाली उंगलियों के पोरों का दर्द पता नहीं किस जहां में खो जाता है। मैंने बहुत ढूंढा था अपने अन्तर में, अपने बाहर पर फिर मिलना नहीं हुआ हां एक उम्र के बाद उसका मिलना हुआ था पर यह वह नहीं थी उसका अक्स मात्र था। हमने बड़ी कोशिश की थी कि उन मन्जिलों को तलाशा जाए जिन पर हमारे कदमों के निशान अभी बचे थे पर हर बार हम रास्ता भूल जाते थे। मैं समझता हूं कि शायद इसमें उसका दोष ज्यादा रहा है पर यह भी हो सकता है कि वह इसमें मेरा दोष मानती हो। बीच का सत्य क्या है नहीं जानता आज भी उस सत्य की तलाश में भटक रहा हूं।

यादों की कड़ियों को झनझनाता एक और पन्ना खुल आया है। बरसाती दिन में लहराता पंखुड़ियों में झिल मिलाते ओस के कणों से नहाया एक शांत चेहरा देवी तुल्य आभा लिए। कहीं अनजाने में उसके सर पर हाथ रख दिया था जिसे वरद मान कर वह धन्य हो आई थी पर मुझे लगता है कि एक समय उसे नहीं मुझे वरद हस्त की आवश्यकता थी। डूबते को तिनके का सहारा और वह तिनका एक बहुत बड़ा किनारा साबित हुआ था जिसकी मुझे उन पथराई हुई स्थितियों में तलाश थी जबकि सारा कुछ मेरे लिए डगमगा आया था। आज बहुत दिनों बाद जब विश्लेषण करने बैठा हूं तो लगता है कि कुछ भी आगम के लिए जान पाना व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है। कोई भी पल, कोई भी क्षण कब कैसे करवट लेकर व्यक्ति के लिए महत्वपूर्ण हो जाए कहना कठिन है। सचमुच एक देवी का आगमन या यूं कहें कि पर्दापण मेरे जीवन में हुआ था और मैं बिखरते-बिखरते सम्भल गया या यूं कहें कि संभाल लिया गया था और आज जो रूप मेरा है वह मैं समझता हूं बहुत कुछ उसकी देन है। उसकी गरिमा, स्निग्ध सौंदर्य, हवा में फैली फिर से नई सुरभि इन सब का श्रेय उसको जाता है। एक विदुषी एवं चिन्तनशील सहयोगिनी व्यक्ति के जीवन को केवल न रसमय बना देती है अपितु जीवन सार्थक लगने लगता है। यह सत्य भी है कि उसके जीवन में आने से एक बार फिर से जैसे एक नई गति सी मिल गई है।

ऐसे अनेक छोटे-मोटे पन्ने इस रंग में रंग अवश्य गये थे पर वे अधूरे ही रहे या यूं कहें कि उन पर ठीक ढंग से कोई रंग नहीं चढ़ सका। अतः उन का शिद्दत से स्मरण आता है। एक बार आकाशवाणी में एक कथाकार

रिकार्डिंग के लिए आई तो सम्बन्धित अधिकारीउस समय वहां नहीं थे अतः उसे मेरे पास भेज दिया। बातचीत के दौरान मैंने पूछा कि यहां के किन कहानीकारों की उसने रचनाएं पढ़ी हैं तो उसने अनेक नाम लिए उनमें से एक नाम मेरा भी था। मैंने उससे इन लेखकों की रचनाओं के बारे में पूछा तो लगा कि उसने सच ही कुछेक रचनाए पढ़ी हुई थीं। मैंने अपना नाम लेकर पूछा कि उक्त कहानीकार की रचनाएं आप को कैसी लगीं तो उसने मेरी तीन चार कहानियों की चर्चा की और अपने ढग से उनका विश्लेषण किया तो मैंने पूछा कि क्या आप डा० जेरथ को जानती हैं? तो उसने तपाक से जवाब दिया कि उन्हें कभी मिली तो नहीं पर सुना है वे बड़े अभिमानी और "एरोगेंट" हैं और यह भी कि बड़े अक्खड़ आदमी हैं।

सुनकर मजा आ गया। मेरे बारे में लोग और लेखक क्या सोचते हैं, इसका मुझे पहली बार अहसास हुआ था। बाद में जब उसे मेरे बारे में पता चला तो वह स्तब्ध सी हो गई। मैं मुस्करा रहा था। उसका चौंकना स्वाभाविक था। हमने बातें की थीं और उसने बेबाक होकर मेरे बारे में बताया था पर यह नहीं जान पाई थी कि मैं ही जेरथ हूं। वह संकोच से भर उठी थी और थोड़ी देर बाद नम होकर बोली कि जो मैंने कहा था वे मेरे अपने विचार नहीं थे। मैं क्षमा चाहती हूं तो मैं हंस दिया था। "अच्छा ही हुआ कि अनजाने में ही सही मुझे यह तो पता लगा कि लोग मेरे बारे में क्या सोचते हैं। मुझे तो इसके लिए आपका शुक्रगुजार होना चाहिए कि समय रहते आपने मुझे चेता दिया।" "नहीं। पर एक बात है कि आपकी रचनाओं को बड़ी गम्भीरता से लिया जाता है।" जैसे वह अपने पहले के उच्चरित शब्दों को मिटा देना चाहती थी कि वे शब्द उसने नहीं कहे। बाद में उसके साथ काफी घनिष्ठता हो आई थी। बहुत दिनों के बाद उसने पूछा था कि सच बतायें उस रोज मुझ पर आप को खूब गुस्सा आया था न, मैंने उतर देने के बजाय उससे ही पूछा था कि पहले तुम मुझे नहीं जानती थी और जैसा लोग कहते हैं तुमने कहा अब तो तुम भी जान गई हो कि मैं अक्खड़ हूं तो वह कानों तक सुर्ख हो आई थी "लगता है आप कभी मुझे माफ नहीं करेंगे। आप सच मानें या नहीं आज तक नहीं समझ पाई कि लोग क्यों ऐसा सोचते हैं। हां, एक बात मैं आज तक नहीं समझ पाई कि लोग क्यों ऐसा सोचते हैं। एक बात मैं समझती हूं कि आप समझौतावादी नहीं हैं शायद इसीलिए लोगों को यह बात अजीब लगती हो। पर एक बात विश्वास से कह सकती हूं कि आप जैसा साफगो और बेबाक इन्सान का इस साहित्यिक क्षेत्र में होना एक अपवाद है। मैं समझ नहीं पा रहा था कि साहित्यिक क्षेत्र के प्रति विक्षुब्ध थी या अपने पहले कहे हुए शब्दों को वापिस ले रही थी बहरहाल अचानक अनायास ही

अपने व्यक्तित्व के एक पक्ष को अपने सामने खुला देखकर बड़ा अजीब लगा था।

अनेक सोपान पार करके जहां पहुंचा हूं सन्तुष्ट नहीं हूं। अक्सर वर्षों पहले कहे हुए स्थानीय लेखकों के दम्भ भरे विचार गूंज उठते हैं—'हमें बतायें कि कौन सा लेखक लखनपुर से पार पहुंचा है।' आज जबकि न केवल लखनपुर की सीमा को पार कर चुका हूं अपितु देश देशान्तर की अनेक साहित्यिक पत्रिकाओं एवं राष्ट्रीय स्तर के समाचार पत्रों में सम्मान पा रहा हूं। जम्मू कश्मीर कल्चरल अकादमी, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, बाल कल्याण संस्थान कानपुर तथा बीसियों साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं द्वारा सम्मानित किया जा चुका हूं। साहित्य अकादमी द्वारा राष्ट्रीय वृत्ति भी पा चुका हूं, जो शायद उत्तरी भारत में केवल एक रचनाकार को ही आज तक मिली है। पर फिर भी लगता है अभी कुछ भी लिखना नहीं हुआ, बहुत कुछ बाकी है। अभी हाल में ही प्रकाशित हिमालयाई संस्कृति पर छपी पुस्तक 'रजत शिखरों के रूपहले स्वर' का विमोचन वर्तमान राष्ट्रपति श्री एस० डी० शर्मा के करकमलों द्वारा दिल्ली में हुआ और हिमालयी संस्कृति विषय पर छायांकन की एकल प्रदर्शनी का उद्घाटन गत वर्ष शिमला में हिमाचल के तत्कालीन शिक्षा मंत्री श्री राधारमण शास्त्री द्वारा किया गया जो बहुत चर्चित भी हुआ प्रशंसित भी। इस बीच अनेक स्तरीय समाचार पत्रों के सांस्कृतिक और साहित्यिक अंकों में क्रमशः लेखों का प्रकाशन मेरी एक पहचान की ओर संकेत करता है। पन्द्रह पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और छः पांडुलिपियां प्रकाशनाधीन हैं पर फिर भी लगता है कि यह अंश भर है। अभी भी बहुत कुछ बाकी है। यह मंजिल नहीं है अपितु उन कदमों के निशां की तलाश है जो निरन्तर पीढ़ी दर पीढ़ी हमारे पूर्वजों द्वारा काल के फलक पर छोड़े जाते रहे हैं और हम उस थाती को जिंदा रखें आगे आने वाली पीढ़ी को अगर कुछ दे सकें तो हमारा लिखना सार्थक होगा। इसी विश्वास से जुड़ा आज भी उसी निष्ठा और उमंग के साथ काम कर रहा हूं...काम कर रहा हूं... और बस काम कर रहा हूं।

बहिरंग

अनिल आज़ाद

स्मृतियों के झरोखों से रोशनी जैसे छन कर आते हुए वे क्षण हैं, जो पिछले लगभग बीस वर्षों में अशोक जेरथ के सान्निध्य में व्यतीत हुए। मेरे आगे उनकी वे सृजित पुस्तकें हैं, जो उनके व्यक्तित्व आयाम विविध दर्शा रही हैं।

विद्यार्थी से अध्यापक, प्राध्यापक फिर सहायक केन्द्र निदेशक के छोर तक पहुंचती हुई उनकी व्यवसायिक यात्रा की भान्ति ही कविता-कहानी, उपन्यास, सम्पादन तथा संकलन से जुड़ी कला और संस्कृति के मार्ग पर उनकी सृजनात्मकता।

यह आदमी कभी खाली नहीं बैठ सकता। कविता, कहानी, उपन्यास न लिख रहा हो, तो शोधग्रन्थ तैयार कर रहा होगा, वहां से मुक्त हुआ तो किसी उपन्यास के अनुवाद, कहानी के संकलन अथवा पत्रिका के सम्पादन में व्यस्त होगा। लेखन को समर्पित ऐसे व्यक्ति विरले ही मिलते हैं, हां, जोश में लिखने वालों की भान्ति वह धड़ाधड़ साहित्य थोक में नहीं दे पाया।

लौह प्रतिमा से दीखने वाले जेरथ को मैंने कई बार (जब वे मेरी उपस्थिति से अनभिज्ञ थे) सब्जी बेचने वाले, छाबा लगाने वाले तथा अन्य समाज के उपेक्षित वर्ग के साथ हंसी-मज़ाक, ठिठोली करते पाया है।

व्यक्ति मूलत: अपने तथा दूसरों के प्रति अनजाने में कुछ विशेष पूर्वाग्रहों दुराग्रहों, धारणाओं तथा भ्रान्तियों से ग्रसित होता है। अत: जब कोई मूल्यांकन अथवा समीक्षा की जाती है, तो अवचेतन में वही मापदण्ड हर विचार को प्रभावित करते हैं।

"चेरी के फूल" से "अनजाने क्षितिज" तक के दस वर्षों का फासला। अशोक जेरथ के बाहर के पड़ाव से अन्तर-पहचान की यात्रा का प्रयास

है। जहां 'चेरी के फूल' में कहानियां मुख्यत: घटना प्रधान है, आसपास के पात्रों तथा स्थितियों का सम्वेदना और अनुभूतिपरक बखान है, वहीं "अनजाने क्षितिज" में अन्तर्मन के भाव-विचार तथा मानसिक द्वन्द्व हैं; सूक्ष्म सम्बन्धों का मर्म स्पर्शी विवेचन है। जहां प्रथम कहानी संग्रह को प्रारम्भ करने के पश्चात् पाठक समाप्त किये बिना नहीं छोड़ता, क्योंकि हर दूसरी कहानी पहले से अधिक रोचक है। वही द्वितीय कहानी संग्रह में एक के उपरांत दूसरी कहानी में अन्तराल देना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि हर कहानी पाठक को कुछ समय तक सोचने के लिए मजबूर कर देती है। हालांकि संग्रह में अन्तस्-चेतना प्रवाह एक सा ही चलता दिखाई देता है।

"चेरी के फूल" संग्रह में "शालवीथी के घेरों में" "कांटे" तथा "कितने हाथ में "आशु", "रोशी" और "पार्वती" मानो एक ही चरित्र हैं। नितान्त व्यक्तिगत, मार्मिक तथा अनाम अनकहे सम्बन्धों की स्मृतियां हैं। कुछ स्मरणीय प्रसंग हैं। यह तीनों कहानियां हृदयस्पर्शी प्रसंगों से युक्त क्षणों को अपने में समेटती हुई भावप्रवण गाथाएं हैं तथा "अनजाने क्षितिज" की कहानियों के काफी निकट हैं।

तथाकथित आम आदमी की कहानियां न होते हुए भी जेरथ की कहानियों में आम आदमी विभिन्न रूपों में उभरा है। "चीड़ें झुकती हैं" यदि निर्धन प्रवासी शरदोई की हृदय कामना की कहानी है तो "अपराजेय" पंचू के जीवन की गाथा है, जहां प्रकृति भी उसे तोड़ पाने में असमर्थ है। इसी कथा लेखक ने लेखन के उद्देश्य को लेकर कुछ मौलिक प्रश्न उठाये हैं।

"धुंधवाते देवदार" तथा "समाप्ति से पहले" की कहानियों में एक अमूर्त किस्म का कलेवर है। बीच में कुछ खाली सा लगता है। परिवेश का अच्छा चित्रण है और मण्टो की बटोट के सेनिटोरियम को लेकर लिखी गई कहानी से काफी मेल खाता है।"

'जम्बोला" और 'जीवन' साहित्यिक मूल्यांकन में दशकों-पूर्व लिखी गई कहानियां प्रतीत होती हैं, किन्तु बाल-साहित्य में अवश्य स्थान प्राप्त कर सकती हैं।

"एक नये सफर की शुरूआत" में लेखक की स्वयं भोगी हुई परिस्थिति का वर्णन है; जिसमें वह महसूस करता है कि, "शादी के बाद स्त्री का अपने लिए नहीं तो दूसरे के लिए मां बनना बहुत ज़रूरी है।" इस कहानी में कुछ कटु सत्यों को उघाड़ा गया है। इस में पीढ़ी का अन्तर, विचारों का मतभेद, अस्पताल की दयनीय दशा, रोगियों की कष्ट-मय स्थिति का वर्णन है।

"चेरी के फूल" तथा "बिखरी हुई शाम" कहानियां लेखक की एक बकरवाल तथा एक विदेशी को लेकर लिखी कहानियां हैं।

इन कहानियों में लेखक मन के कलात्मक तथा दार्शनिक दोनों पक्ष उभर आये हैं। पहाड़ों की ऊंचाईयां, देवदारों की हरियाली, ब्रर्फ के टुकड़े, बादल की चिप्पियां, दुधिया चादर, नंगे दरख्त, घाटी के नाले, छोटे छोटे बगीचे, सोने जैसी चमक के सुनहरे बाल, पांडवों के मन्दिरों के भग्नावेश, दुद्दर का पानी, सांकरी का मन्दिर, पण्डिारी ग्लेशियर, झुकती हुई चीड़ें इनकी कहानियों में जीवन्त हो आये हैं। वे खामोशी को शब्दों से कहीं महत्त्वपूर्ण मानते हैं।* मनुष्य का अजनबीपन तथा बुढ़ापे में अकेलापन अन्य अस्तित्ववादी लेखकों तथा निर्मल वर्मा इत्यादि की कहानियों की तरह उन्हें भी शूलता आया है।**

पेड़ों-पहाड़ों के बीच लेखक अपने को अत्यन्त सहज पाता है। पूर्व-पश्चिम संस्कृति का विरोधाभास एक "भूली बिसरी शाम" की तरह "अन्तराल" कहानी में भी विचारोत्तेजक है। तथा प्रकृति चित्रण जैसे "सामने के पहाड़ की चोटी बादलों के ऊपर ऐसे टिकी थी मानो दूधिया जल की झील में से कोई टापू उभर आया हो", मन्त्र मुग्ध करता है। इस कहानी में पति पत्नी के बीच नितांत व्यक्तिगत शारीरिक एवं मानसिक कटु सच्चाईयों को जिस ईमानदारी के साथ लेखक ने उघाड़ा है, उसका साहस विरले कहानीकारों में ही सम्भव है।

लेखक केवल अपने में ही सिमटा हुआ नहीं है। आसपास समाज में व्याप्त बुराईयों को लेकर भी जागरूक एवं चिंतित है। "अभी कुछ बाकी है", कहानी में वह नगर के चरस व्योपा को पांच पहाड़ों पर पहुंचते देखकर परेशान होता है, वैसे यह कहानी बेनाम, स्वार्थहीन, अपेक्षारहित सम्बन्धों को उघाड़ती है, जहां कुछ भी निश्चित नहीं है। साथ ही लेखक का प्रिय स्थान हिमालय है, जो उसे अपने पहाड़ों, चोटियों। वृक्षों, वनों, घाटियों तथा नदी-नालों के साथ सम्मोहित करता आया है।

"अन्तराल", "अभी कुछ बाकी है" की तरह ही "एक नई दुनिया" में भी प्रकृति की रूमानियत के अतिरिक्त नारी के संग बीते समय का भी वर्णन है। इन कहानियों में नारी एक महत्त्वपूर्ण अंग बनकर उभरी है। लेखक अन्तर्मुखी है, अक्सर पहल करने से कतराता है। साथ ही इन कहानियों में लेखक का दार्शनिक पक्ष ही बहुधा झलकता है, "मरने के बाद भी कब्रों के रूप में व्यक्ति-व्यक्ति के बीच की दूरी उसी तरह कायम थी, जो जीते समय रही होगी।"

---

* "शालवीथि के घेरे" इत्यादि
** "एक नई दुनिया"

"अपराजेय" की तरह यहां भी लेखन को लेकर कहानीकार के विचार प्रखर हैं, अक्सर उसके मन में लेखन की सार्थकता को लेकर प्रश्न उठते हैं। "बीते दिन" एक विचार प्रधान कहानी है, जहां कुछ स्मृतियां, कुछ अपेक्षाएं, कुछ एकांगीपन है, जो जोड़ों के बीच एक अकेले को और ज्यादा डसता है। "अभी कुछ बाकी है" कहानी के भुवन और श्वेता बीते दिनों में पुन: मुखरित हुए हैं। डिग्रियों में बटे जीवन के बावजूद व्यक्ति पजेसिव होना चाहता है, और चाहता है दूसरा भी उसे पूर्णतया आत्मसात करे और यही उसकी त्रासदी है।

श्वेता का कंकर, कुमार के मानस पर गिर कर शान्त पानी की सतह पर घेरों में फैलता फैलता बहुत से क्षणों को समेट लेता है। अत्यन्त सूक्ष्मता और सहजता के साथ कुमार अपनी विचारधारा की परतों को खोलता जाता है, और बीच-बीच में उसका विवेचन भी करता है। "अनाम बन्धन" एवं अधिकतर कहानियां उपन्यास की भान्ति एक-एक खण्ड में शीर्षक सहित बंटी हुई हैं। एक ही विचारप्रवाह चल रहा है, जिसका केन्द्रबिन्दु एक नारी है, बाकी सम्बन्ध तथा भाव उसके इर्द-गिर्द घूम रहे हैं। अपूर्ण मुख्यपात्र श्वेता से जुड़कर पूर्णत्व प्राप्त करने की चेष्टा में है।

परिवार में रहते हुए घुटन की छटपटाहट और परिवार के बाहर अकेले-पन का एहसास। जितना सत्य उतना ही त्रासदायक। "घेरे" कहानी में भेड़ें और मेमने/परिवार और मुख्य-पात्र सभी जैसे जेरथ द्वारा सृजित सृष्टि के विस्तार के अंग बन गये लगते हैं।

जेरथ ने इन कहानियों में बहुत हद तक महसूसा हुआ यथार्थ दिया है। परिकल्पित एवं किसी और का जीवन इन कहानियों में झलकता नहीं दिखता।

आत्म कथात्मक कहानियां, अनुभूतिपूर्ण क्षण, आत्मीयता के प्रसंग और मुख्य पात्र की सीमाएं लगभग हर आदमी में वह एक सीमा तक नारी के साथ जुड़ा हुआ है, किन्तु साथ ही कोई अनजानी सी दूरी भी दोनों के बीच बदस्तूर बरकरार रहती है। कहीं भी कुछ तन तथा मन से पूर्ण नहीं दिखता।

जेरथ की कहानियां उनको जानने जालों को झटका सा देती हैं। "घरौंदा" तथा अन्य कुछ कहानियों में मुख्यपात्र जो कि लेखक स्वयं भी हो सकता है, स्त्री-पात्रों के इतना निकट आ जाता है कि भारतीय समाज की स्थापित परम्पराओं तथा मूल्यों को झिझोड़ कर रख देता है। यह कहानी भी अत्यन्त मर्म स्पर्शी है, तथा एक दृष्टिकोण से कुछ भी अनैतिक नहीं, किन्तु सब कुछ इतना सत्य प्रतीत होता है कि लेखक की पत्नी की इसके प्रति क्या प्रतिक्रिया है...यह लेखक को ही ज्ञात है......।

"अनजाने क्षितिज" की लगभग हर कहानी में मुख्य पुरुष पात्र और नारी में अत्यन्त आत्मीय सम्बन्ध, मुख्यत: मानसिक, बौद्धिक और भावात्मक प्रगाढ़ता के साथ-साथ शारीरिक आकर्षण-समर्पण-आमंत्रण कई बार संशय में डाल देता है कि, कहीं अपूर्ण आकांक्षाओं की पूर्ति कल्पना द्वारा प्रथम पुरुष में लेखक स्वयं तो नहीं कर रहा। यदि नहीं तो वह या तो मानसिक रूप से पाश्चात्य मूल्यों के साथ जी रहा है अथवा यदि भारतीय परिवेश में हैं तो किसी महानगर में रह रहा है अथवा इक्कीसवीं सदी में जी रहा है।

संग्रह की अधिकांश कहानियों में नारी के साथ नायक के सम्बन्धों (विशेषतया शारीरिक) को लेकर लेखक कहीं संकोच नहीं करता। डा० एच० लारेंस मण्टो, अमृता प्रीतम, कमलादास, कृष्णा सोबती और खुशवन्त सिंह की भान्ति वह भी बेबाकी के साथ खुल जाता है।

संग्रह की अन्तिम कहानी "अनजाने क्षितिज" में भी वही मनोवैज्ञानिक कथा के दो पात्र हैं। आकर्षण और विकर्षण ; प्रेम और घृणा ; आसक्ति और विरक्ति ; अपेक्षा एवं तिरस्कार, दो धुरियों के बीच चलता जीवन। स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को लेकर मानव मन तथा सामाजिक मूल्यों में बंटी ज़िंदगी, जिसमें अन्तस का दु:ख है, अन्तर्द्वन्द्व है, बहुत सीमा तक लेखक एक परिस्थिति की पीड़ा को बांधने में सक्षम हुआ है।

संग्रह की कहानियां तथाकथित आम आदमी के बोध से बंधी हुई हैं। पात्र चाहे लम्बड़दारनी हो या ऋचा, श्वेता, शीलू, युलरीक अथवा यूरी सभी स्त्री के एक विशेष पक्ष एवं स्तर का प्रतिनिधित्व करते हैं, पढ़ी-लिखी, सजग, भावुक तथा लगभग मानसिक रूप से आकर्षित और शारीरिक रूप से समर्पित।

अगर इस कहानी संग्रह से एकाध कहानी निकाल दी जाये तथा बाकी के पात्रों के नाम बदल कर एक ही रखा जाये तो यह पुस्तक उपन्यास के रूप में हमारे सामने होगी। क्योंकि इसमें एक ही कथ्य चल रहा है, तथा इन कहानियों में भावप्रवाह तथा विचार-धारा में समरसता है।

जेरथ की कविताएं मूलत: मर्म स्पर्शी अनुभूतियों के शिलालेख हैं। बाहर से हिमखण्ड की भांति ठण्डे, एकरंगी और कठोर, किन्तु भीतर से हिमखण्ड के नीचे बहती हुई तरल धाराओं की भांति स्वच्छ, सरस और शीतल जो उनके मर्म-अन्तस में बहकर उनके साहित्य और व्यक्तित्व में प्रस्फुटित हुई है, जिसे बहुत कम लोग चीन्ह पाये हैं।

"आहत चीड़ें" उनकी बेकारी के दिनों में केवल खाली बैठने, खुले आकाश को ताकने तथा आड़ी-तिरछी रेखाओं को खींचने की मजबूरी की अभिव्यक्ति है। कुण्ठित होकर भी सम्पूर्ण पलायनवादी न बन सकने की स्थिति उनकी कविताओं

के माध्यम से प्रकट हुई है और बकौल लेखक तीसरी मन:स्थिति जो कि जड़ता की ओर जाने का एहसास था, इस काव्य संग्रह में अभिव्यक्त हुआ है।

"तुम्हारी चिट्ठी", गुलजार की "इजाजत" की कविताओं की भान्ति सीधी दिल में उतरती है !

"तुम्हारे यहां की भीगी शाम
मेरी गर्म दुपहरी पर—
घटा सी घिर आई है !

—(तुम्हारी चिट्ठी)

जेरथ को शुष्क, नीरस एवं कठोर जैसे उपमानों से अलंकृत करने वालों ने उनके साहित्य में व्याप्त संवेदनशीलता, मार्मिकता तथा भावुकता को न जाने क्यों नजर अन्दाज कर दिया है।

"टूटने लगते हैं जब दिन
रातें फैल जाती हैं
सच मानो, तुम्हारी बहुत याद आती है"

"तुम्हारी याद में" की यह पंक्तियां, स्मृतियों की बदली की भान्ति जहां-तहां कसक की फुहार बनकर सिहरा देती हैं।

"संसार चक्र" में यदि नैराश्य उभरा है, तो "लोकराज" में साधारण, निर्बल वर्ग से उठकर समाज के प्रभावी वर्ग को चुनौती देने का अत्यन्त सशक्त प्रतीकात्मक चित्रण हुआ है। अगर "लोकराज" में उन्होंने शोषित वर्ग में मजदूर को उभारा है तो "जिजीविषा" में किसान की पीड़ा को अनुभव किया है।

जेरथ केवल प्रणय और तरल मर्मस्पर्शी क्षणों तथा अनुभूतियों को ही चित्रित नहीं करते, वरन्, सामाजिक, राजनैतिक विसंगतियों पर दृष्टिपात करते हुए उन पर सटीक कटाक्ष तथा व्यंग्य करते हैं ("टूटती दीवारें", "विडम्बना") कहीं-कहीं उनके विद्यार्थी जीवन का जोशीला नेता "तुम्हारे विश्वासों की डगर में" क्रान्ति का सिंहनाद कर उठता है। शिक्षक के जीवन में उन्होंने ठहराव को महसूस किया है, देखा है कैसे दुनिया कहां से कहां पहुंच रही है। किन्तु उसे पहुंचाने वाला शिक्षक सारी उम्र वही शिक्षक ही रहता है। यही कहा है उन्होंने "शिक्षक" कविता में।

अगर उन्हें कारणवश "शिवाजी की स्मृति में" जैसे विषय विशेष पर कविता लिखनी पड़ी तो उसमें भी उनकी साहित्यिक सृजनात्मकता मुखरित हुई है।

लोगों में आते हुए बदलाव तथा स्वाथ की भावना जेरथ जैसे शाश्वत मूल्यों में अडिग विश्वास तथा आस्था के पक्षधर को त्रस्त करती है, ऐसी परिस्थितियों में उद्वेलित हो वे "पारदर्शी हवाओं" में अपने विचारों को शब्द देते हैं। समष्टि से व्यष्टि; "मेरा हंसना हंसना नहीं मेरे दोस्त" में उन्होंने व्यक्ति की विवशता का सूक्ष्म विवेचन किया है।

"पहलगाम की एक शाम" में एक रोमांटिक अहसास उनकी कविताओं में अनायास ही उतर आया है। "एक नए सूरज की तलाश" प्राकृतिक बिम्बों तथा प्रतीकों से भरी पूरी कविता है। "खून की एक शाम" में लेखक शहर की अफरा-तफरी से दूर प्रकृति की शान्त गोद में आंखें बंद करके लेटना चाहता है। "तुम्हारे लिए", उमंग-तरंग, आशा-विश्वास तथा प्रेम और उत्साह से भरी हुई कविता है :

"पत्र, जो मैंने लिखे थे
तुमने पढ़ लिए होंगे
खाली पन्नों पर भाव भरे थे
शब्द तुमने गढ़ लिए होंगे—"

हृदय को छूती हुई अनुभूतियों को अन्तस में उतारती ये पंक्तियां हैं "टूटते क्षणों की तलाश" से—

"जब शाम अपना आंचल फैलाए
वृक्षों से नीचे उतर कर
रात बन जाती है"

"शाम के बाद" कविता के माध्यम से जेरथ पाठक को एक ऐसे दृश्य की इन्द्रधनुषी चाप के घेरे में ले लेते हैं, कि उसकी आंखों में छितराये हुए सभी रंग ढलती हुई शाम में ढल जाते हैं। हां, कुछेक कविताएं इतनी सूक्ष्म हो गई हैं, जो सामान्य पाठक वर्ग की समझ से बाहर हैं।

अधिकतर लेखकों की भान्ति जेरथ के साहित्य में भी हर स्तर की रचनाएं हैं। निकृष्ट से लेकर उत्कृष्ट तक की उनकी कविताओं में सपाट कविताएं भी हैं, (दर्द होता है अकेले चिनारों में) जिनमें नारेबाजी का प्रयोग हुआ है। वैसे तो जेरथ ने तुकान्त को कभी महत्व नहीं दिया, किन्तु कभी-कभार मूड में आकर "एक नई सुबह", "एक अनाम यात्रा" तथा "टैरेस के आगोश में" इत्यादि में तुकान्त का प्रयोग भी किया है। छन्द, अलंकार और मंचीय कविता के प्रलोभन से जेरथ दूर ही रहे। आशा-निराशा, अवसाद, दुःख, पीड़ा, वेदना, प्रेम सभी उनकी कविताओं में व्यक्त हुए हैं। भाषा पर उनका

प्रभुत्व है। प्रकृति उनकी कविताओं में जीवन्त होकर उभरी है। बिम्ब स्पष्ट प्रकट हुए हैं तथा प्रतीक सुन्दर बन पड़े हैं।

डॉ० अशोक जेरथ की पुस्तक "न टूटने वाले पंख" विकलांगता को एक साहित्यिक देन है। अपनी किशोरावस्था में तत्कालीन प्रचलित सामाजिक उपन्यासों से प्रभावित तथा पूर्व-युवावस्था में अस्तित्ववाद तथा साम्यवाद से हुआ उनका जुड़ाव इस उपन्यास में आया है। (इस उपन्यास को अगर उनके साहित्य से बाहर भी कर दिया जाए तो उनका कुछ खोने वाला नहीं)। उपन्यास पूर्णतया सपाट है। वातावरण, परिवेश, चरित्र, कथ्य, शिल्प, भाषा कुछ भी सशक्त होकर नहीं उभर पाया। डॉ० अशोक जेरथ के साहित्यिक जीवन के मूल्यांकन में आवश्यक होने के अतिरिक्त इसका अन्य कोई महत्व नहीं दिखता।

जेरथ द्वारा अनूदित, संकलित और सम्पादित पुस्तकों में कुछ ऐसा विशेष नहीं जो उनकी सृजनात्मकता में बहुत कुछ जोड़ सके, हां इन पुस्तकों को उनकी उपलब्धियों में अवश्य गिना जा सकता है।

जेरथ के कृतित्व में आए मोड़ पर दृष्टिपात करने से पूर्व मैं उनके शोध-ग्रन्थ का जिक्र करना चाहूंगा।

"चेतना प्रवाह तथा हिन्दी कथा साहित्य" उनके वर्षों के श्रम का परिणाम है। यह उन्होंने महज उपाधि के लिए नहीं लिखा अपितु एक विषय को अन्तिम सिरे तक उधेड़ने की चाह में उन्होंने राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय लेखकों की पुस्तकों को खंगाला है। इतने वृहद विषय को लेकर लिखना अपने आप में एक चुनौती थी, जिसमें उनका प्रखर चिन्तन मुखरित है। 'नमियां डोगरी बारां' उनकी ही संकलित, सम्पादित पुस्तक डोगरी साहित्य जगत को एक अन्य अनुपम देन है।

जेरथ के कृतित्व का मोड़ तब शुरू हुआ, जब अक्स्मात उनकी मुलाकात एक वृद्ध दरेश (दरवेश) से हुई, जिसने डोगरी बारां (वीर गाथाएं) में जेरथ की अभिरुचि जागृत की। डोगरी में लिखी गई "नमियां डोगरी बारां", उनका कृति में सूक्ष्मावन्षेण मुखरित हुआ है।

इसी क्रम में उन्होंने बाल-साहित्य को भी "डुग्गर की लोक गाथाएं" भेंट कीं। सीधी, सरल, सरस भाषा में लिखी गई इस पुस्तिका में बच्चों की रुचि के अनुसार कौतूहल पूर्ण तथा वीरता से भरी हुई लोक गाथाएं धारा-प्रवाह कहानी के रूप में दी गयी हैं। डुग्गर देश की संस्कृति और कला के साथ जुड़ी इस क्रम में तीसरी पुस्तक 'फोक आर्ट आफ डुग्गर' है। जेरथ ने हिन्दी, डोगरी और अंग्रेज़ी में लिखकर अपने बहुभाषी होने का परिचय दिया

है। यों लेखक बंगला और फ्रेंच से भी खूब परिचित है।

इसी पुस्तक के माध्यम से प्रथम बार पाठक का परिचय छायाकार जेरथ से होता है। इस पुस्तक एवं इसके उपरान्त की दो अन्य पुस्तकों के माध्यम से एक अव्यावसायिक छायाकार होने के बावजूद उन्होंने इस क्षेत्र में अपनी अनूठी छाप छोड़ी है। उनके छायाचित्र इतने जीवन्त प्रतीत होते हैं, कि मित्रों के अनुरोध पर जब उन्होंने अपने शिमला प्रवास के मध्य वहां पर एकल छायाचित्र प्रदर्शनी लगाई तो तीन दिन तक उसमें बर्फ में चल-चलकर आने वाले कला पारखियों का तांता लगा रहा और पत्र-पत्रिकाओं में तो वह प्रदर्शनी खूब चर्चित रही। जेरथ को भी ढेरों प्रशंसा पत्र प्राप्त हुए।

"रजत शिखरों के रूपहले स्वर" तथा "Ripples in the Himalayas" जेरथ के सृजनात्मक जीवन के मील पत्थर हैं। ये पुस्तकें किसी नगर के किसी बन्द कमरे में बैठकर सत्य घटना के आधार पर कल्पना के पंख लगाकर नहीं लिखी गई, वरन् सैंकड़ों-हज़ारों मीलों की कठिन यात्रा, प्रतिकूल परिस्थितियों में भ्रमण, प्रवास तथा बीसीयों पत्र-पत्रिकाओं, संदर्भ-शोधग्रन्थों के आधार पर किये गये अनथक परिश्रम का परिणाम हैं।

जिनमें सुदूरपूर्व-आंचलिकता को लेकर जेरथ की घुमक्कड़ प्रकृति, तथ्यान्वेषी दृष्टि, कुशल छायांकन तथा प्राकृतिक सौन्दर्य-बोध प्रस्फुटित हुए हैं।

लोक-संस्कृति, लोक-चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य-कला, शिल्प, पहाड़ी-चित्रकला, त्योहार तथा मेले एवं धार्मिक अनुष्ठान से लेकर वहां के जन-जीवन तथा प्रागैतिहासिक युग तक की स्थितियों, भग्नावशेषों और जीवन से परिचित कराते हुए जेरथ पाठक को अपने साथ पूर्ण साहित्यिक परिवेश में आकाश, सितारों, चांद, बादलों, हिमशिखरों, पहाड़ों, हिमनदों, पेड़ों, घाटियों, वादियों, मंदिरों, झोंपड़ों तथा गुफा-कन्दराओं में इस प्रकार घुमाते हैं, कि धरती की सौंधी-गन्ध पाठक की आंखों, हृदय तथा मन-मष्तिष्क को रसमुग्ध कर देती है। यह पुस्तकें जेरथ की प्रकृति के अनन्य प्रेमियों, समाजशास्त्र, तथा पुरातत्वशास्त्र के जिज्ञासुओं को एक अनुपम भेंट हैं।

जेरथ की ये पुस्तकें ज्ञानवर्धन, रोचकता, चित्रात्मकता, अनुसंधानात्मकता एवं मनोरंजकता की दृष्टि से निम्नलिखित पुस्तकों के समान हैं महत्वपूर्ण।

1. The Way of the White Clouds

Lama Anagarika Govinda

2. The Journey to Lhasa

3. Magic And Mystery In Tibet

Alexandera David-Neel

4. Seven Years in Tibet

Heinrich Harrer

5. The Snow Leopard

Peter Matthiessen

"The Folk Art of Duggar", "रजत शिखरों के रूपहले स्वर" तथा "Ripples in The Himalayas" के कुछेक लेख यद्यपि सरस, रोचक, सुरुचिपूर्ण, तथ्यात्मक एवं शोध से परिपूर्ण हैं, तथापि कुछेक विषय सतही, अधूरे, और लेखक के व्यक्तिगत संस्पर्श के बिना, जहां-तहां से एकत्र किये कुछ साधारण टुकड़े लगते हैं, जिनके बारे में अक्सर पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों में पढ़ने को मिल जाता है।

किम्वदन्तियों, लोक-कथाओं तथा चमत्कारों को लेकर लिखे गये लेख कुछ विशेष नहीं बन पाये, क्योंकि हिमालय के हर पत्थर के साथ एक कथा जुड़ी हुई है।

इन पुस्तकों में जाने-अनजाने लेखक ने कुछ बातों को दुहरा दिया है। यह किसी पंक्ति अथवा तथ्य का एक ही लेख में दो-तीन बार आना, किसी एक ही बात का जिक्र एक ही पुस्तक के अलग-अलग लेखों में दोबारा होना, किसी पूरे लेख का एक ही जैसे अथवा अलग शीर्षक से किसी दूसरी पुस्तक में लगभग ज्यों का त्यों पाया जाना खटकता है।

यह सुधी पाठकों को पुनरावृत्ति उकता देती है, जो कि समय और पुस्तकों पर हुए व्यय के साथ खिलवाड़ है।

न झुकने की प्रकृति, समझौता न करने की प्रवृति और चमचागीरी जी-हजूरी न करने के सिद्धान्त ने जेरथ को काफी आलोचक दिये। अन्याय के विरुद्ध डटने का साहस, गलत को अस्वीकार करने का हौसला और बहाव के खिलाफ होने की ताकत उनमें विद्यार्थी जीवन में ही झलकना शुरू हो गयी थी। हिन्दी साहित्य मण्डल में उनका कार्यकाल विवादों से परिपूर्ण था। किसी के अपशब्द कहने पर उसे झापड़ लगा दिया, तो किसी से गर्मागर्मी होने पर उससे धक्का-मुक्की भी हो गई।

मूलत: कवि-साहित्यकार कोमल भावनाओं के साथ-साथ वैचारिकता में भी कोमल होते हैं। किन्तु जेरथ की कोमल अनुभूतियां उनके कठोर व्यक्तित्व के साथ चलती हैं। जिन लोगों के साथ उनका टकराव रहा है, उन्होंने जेरथ को अक्खड़ और अड़ियल माना है। पर अपनी धुन के पक्के जेरथ ने कभी भी अपने व्यवहार में परिवर्तन करना आवश्यक नहीं समझा।

साहित्यिक क्षेत्र में भी कई लोग उनसे खुलकर चर्चा करने से कतराते रहे हैं। यहां तक कि कुछ लोगों के ज़ेहन में जेरथ का ज़िक्र मानो उनको भीतर ही भीतर आतंकित करता रहा है।

जब जो उन्हें सत्य लगा, उसके लिए वह डट गये, फिर परिणाम की चिन्ता नहीं। गलत समझौतों से दूर अपने ढंग से काम करना उनके लिये विवाद खड़े करता आया है। न गलत कहना, न गलत सुनना, भय उन्हें यों भी नहीं भाया, अपनी मान्यताओं के प्रतिपादन में यदि उन्हें बड़े से बड़े आदमी से भी टक्कर लेनी पड़ी तो वह घबराए नहीं, अपनी आस्थाओं के प्रति अडिग, अपने विरोध के प्रति बेपरवाह बने रहे।

समय के साथ-साथ उनके व्यक्तित्व में प्रौढ़ता, सहनशीलता और अधिक परिपक्वता लक्षित होती है। वक्त ने उन्हें कुछ बर्दाशत करना या थोड़ा बहुत समझौता करना भी सिखाया है। इन सब बातों के अतिरिक्त मानवीय दुर्बलताओं से वह परे रहे। कई बार ऐसा भी प्रतीत होता है कि उनका व्यक्तित्व, बातचीत का लहजा स्वभाविक नहीं अपितु सायास ओढ़ा हुआ है। कुछेक शब्दों का उच्चारण थोड़ा असहज लगता है और उनके सशक्त जीवन में कुछ ऐसे अवसर भी आए हैं, जहां वह अपने व्यक्तित्व के अनुरूप कुछ कमज़ोर पड़े हैं, परन्तु वास्तव में उनका व्यक्तित्व एक दृढ़ पुरुष का है।

जहां प्रारम्भ में उन्होंने स्वान्त; सुखाय लिखा तथा बाद में प्रकाशित एवं प्रसिद्ध होने की उनकी इच्छा रही वहां वर्तमान में उनके लेखन में आर्थिक लाभ का लेखा।जोखा भी सम्मिलित होता जा रहा है।

उनके "स्व' में "मैं", "मेरे साथ" तथा "मेरे द्वारा" का दंभ अधिक परिलक्षित होने लगा है।

अशोक जेरथ के व्यक्तित्व की यह सम्पूर्ण, सम्यक् एवं सटीक व्याख्या नहीं है। क्योंकि उनको एक विशेष कोण से देखकर की गई टिप्पणियां शायद पूर्णरूपेण निरपेक्ष न हों, फिर भी वे राज्य के साहित्य-जगत के लौह पुरुष कहे जा सकते हैं। बेशक।

अंतरंग

पद्मा सचदेव

बावड़ी को बूंद में भरना कठिन है तो भी यत्न करूंगी ।

ज़िन्दगी के पहाड़ पर खड़ी होकर जब पीछे मुड़ कर देखती हूं तो सुख ही मिलता है । बहुत कुछ पाया है मैंने । इतना कि जो खोया है उसका दु:ख नहीं होता ।

ज़िन्दगी की पहली सुखद याद तब की है जब पुरमंडल गांव के हमारे घर के बड़े आंगन में एक तरफ बने चौतरे पर मेरी दादी खूब बड़ी चाटी में लस्सी बिलो रही थी । वहीं पास आंगन से चौतरे को अलग करती एक छोटी दीवार के आले में रखे खिलौनों को मैं हल्दी का तिलक लगा कर उन्हें शिव समझ पूज रही थी । दादी ने थोड़ी देर बाद मथानी एक ओर रखकर पतीले में से ठंडे पानी के छींटे लस्सी की चाटी में मारे थे फिर अपने काले काले हाथों में मक्खन के गोरे गोरे पेड़ों को तौलते हुये उसने मुझे अर्थपूर्ण दृष्टि से देख कर मानो कहा था ज़िन्दगी को इसी तरह मथ कर उसमें से मक्खन निकालना पड़ता है ।

ज़िन्दगी की पहली दुखद याद तब की है जब श्रीनगर जाते हुए गूजरी की बकरियों के रेवड़ की दो चार बकरियां हमारी बस के नीचे आ गई थीं । खूब हल्ला हो रहा था । जब मैंने उचक कर खिड़की से देखना चाहा तब मेरी मां ने अपना शाल मेरे मुंह पर डाल दिया था । मेरी मां ने हमेशा ही संसार का घिनौना व डरावना रूप देखते ही मेरा मुंह ढक दिया है । माएं ऐसा ही करती हैं ।

मेरे पिता प्रो० जयदेव शर्मा हिन्दी संस्कृत के विद्वानों में से थे । रियासत में वे उन इक्के दुक्के व्यक्तियों में से थे जिन्होंने एम० ए० एल० एल० बी० प्रभाकर आदि किया था । पिता जी ने अंग्रेजी व हिन्दी में एम० ए० की थी । हमारी वाणी फूटते ही उन्होंने हमें श्लोक सिखाए । मैं और मेरा भाई आशुतोष हम दोनों फरमायश पर श्लोक सुनाते थे । आशुतोष का उच्चारण बहुत शुद्ध न था इसलिए वो धीरे-धीरे टांग खुजाते हुए मुनमुन करता था और मैं

उसके उल्ट खूब बुलन्द आवाज में सस्वर श्लोक पढ़ा करती थी। शहर में आज भी कुछ बुजुर्ग हैं जिन्होंने हमसे श्लोक सुने हैं।

पिता जी पहले दरबार मूव के साथ छः महीने श्रीनगर में नौकरी करते थे। श्रीनगर की कई स्मृतियां तह दर तह मैंने अपनी स्मृतियों की डायरी में संजो कर रखी हैं।

उन दिनों महाराजा हरिसिंह के पैलेस में मेरी मां के छोटे मामा जी नौकर थे। मुझे गुप्कार की धुंधली सी याद है। वहां पीछे बाग में दरख्त फलों से लदे रहते थे और चोरी करने पर माली डंडा लेकर पीछे भागता था। वहीं एक बार खिड़की में से झांकती महारानी तारादेवी की एक झलक मुझे याद है। पूरी खिड़की जैसे किनारी बांकड़ी से सजी डोगरी पोशाक से तारों की तरह झिलमिला उठी थी। उसके बीच चांद जैसा चेहरा मुस्करा रहा था। फिर एक बार कोई मुझे गोद में उठा कर महल में कन्या पूजन के लिए ले गया था। तब मैं सिर्फ आकाश देख रही थी। इन्हीं कई झलकियों को मिला कर ज़िन्दगी बनती है।

मेरी मां से सुन्दर स्त्री कोई न थी, जहां वह बैठती थी वहीं सूरज उग आता था। पिता जी की विद्वता के आगे बड़े-बड़े शीश झुकते थे। मैं गर्वभरी मां बाप की पहली सन्तान पता नहीं कौन से आसमान को छूने का सपना देखा करती थी। उन दिनों पिता जी मीरपुर कालेज में हिन्दी संस्कृत के प्रोफेसर थे। पूरे मीरपुर में उनका सम्मान था। जब वे पीले क़ायदों से भरी बोरियां लेकर मीरपुर जाते थे तब मैं बड़ी हैरान होती कि इतने क़ायदे कौन पढ़ेगा। पर मीरपुर में पिता जी हिन्दी का प्रचार करने के लिए ही ये बोरियां ले जाते थे। शहर में सब उन्हें प्रोफेसर साहिब कहते थे।

1946-47 का ज़माना था। पिता जी हमें जम्मू छोड़ गये थे। खुद चार्ज देने मीरपुर गये थे। उनका तबादला जम्मू में हो गया था। जब वापिस आ रहे थे तभी राह में 1947 में चलने वाली गोलियों में से एक गोली हमारे घर आ लगी थी। राह में ही हमारा बचपन मां का यौवन और मेरे छोटे भाई ज्ञानेश्वर की किलकारियों पर कहर टूट पड़ा था।

हमारे ताऊ जी पुरमंडल के जाने माने पंडित चक्रपाणि हमें आकर गांव ले गये थे। जम्मू से पुरमंडल जाने वाला ये लुटा हुआ काफिला भी ज़रा सा याद है। फिर गांव में रोती हुई औरतें, पागल सी मां, बदहवास सी मैं और गांव का घर। ज्ञानेश्वर छोटा था। आशु छः वर्ष का था। उधमपुर से मां के इकलौते भाई मास्टर हेमराज खजूरिया आकर मेरे भाई आशुतोष को ले गये थे। मां की ज़िम्मेदारी से जैसे वो मुक्त हो गये थे। पर तीन चार बरस वहां रहने

के बाद आशुतोष वापिस आ गया था। फिर मेरी मां ने उसे कहीं नहीं जाने दिया।

मेरी मां छठी सातवीं तक पढ़ी थीं। उन्हें पिता जी के एक बरस होते ही स्कूल में नौकरी मिल गई थी। पहले तो पुरमंडल में ही लगी थी। मेरे ताऊ जी के बड़े पुत्र सुमन्तु भैय्या जो मास्टर थे मां को गोशवारा और स्कूल बाणी प्रबंध समझाते रहते थे। मेरी मां बेहद सीधी और सादा महिला थीं।

मेरी ताई हम बच्चों को तो प्यार करती थी पर मेरी मां को उठते बैठते कोसती थी। मां के दो मामा थे। अमरनाथ रत्नपाल और परमानंद रत्नपाल। दोनों मां को बेहद प्यार करते थे। उन्होंने ही मां की नौकरी भी लगवाई थी और उन्होंने ही फिर उनका तबादला जम्मू में करवा दिया। हमें अपने मामा की तो कोई सुखद याद नहीं पर मां के मामा लोगों ने हमारे सिर पर हमेशा स्नेह और ममत्व का हाथ रखा। मेरी नानी उनकी इकलौती बहन थी।

एक और हाथ जो हमारे सर पर रहा वो हमारी बड़ी बुआ के बेटे पं० महेन्द्रनाथ जी का था। बचपन में मैं उन्हीं के घर पर बड़ी हुई हूं। हमारे फूफा के दादा जल्ला पंडित कभी रियासत के प्रधानमंत्री थे। डोगरी में उनके बारे में यह कहावत थी :

'उप्पर अल्ला हेट्ठ जल्ला'

मेरे महेन्द्रनाथ भापा जी मेरे पिता जी से बड़े थे। पर रिश्ते में तो मेरे भाई ही थे। कभी कभी राखी भी बंधवाते थे। शगुन में अठन्नी देते थे। फिर ये फीस बढ़ती बढ़ती दस रुपये तक हो गई थी।

हमें पुन्छ हाऊस में दो कमरे मिल गये थे। छोटा परिवार था पर सुखी था। मां ने हमें कभी भी पिता जी की कमी खलने न दी। हम भी कभी मां के सामने पिता जी का नाम न लेते थे। पर वो जैसे हम सब के संग रह रहे थे।

फिर एक हादसा हुआ। एक दिन मां स्कूल से रोते हुए घर आई। सीधी सरल सी मेरी मां ने रोते रोते कहा—

"मैं इतने बड़े विद्वान की पत्नी मुझे ये इन्स्पेक्ट्रेस डांट जाय। मैं ये नौकरी न करूंगी"। ये इन्स्पेक्ट्रेस श्रीमति ठुस्सु थीं। वे बहुत काली थीं पर खूब स्मार्ट थीं। लाल रंग की लिपस्टिक लगाती बड़ा सा जूड़ा बनातीं और ऊंची एड़ी के सैन्डिल पहन कर चलते उनकी करीने से बंधी साड़ी डोलती रहती। ऐसी औरत मैंने उतनी ज़िन्दगी में पहली बार देखी थी। जम्मू के पक्की ढक्की स्कूल में वे एक बार आई थीं तो दोपहर में लच देने का ख्याल हमारी हैडमिस्ट्रेस को आया। मैं लंच तो न जानती थी पर स्कूल की तेजतर्रार और

जहीन लड़की होने पर हैडमिस्ट्रैस ने मुझे ही उन्हें लन्च देने की हिदायत दी थी। लंच क्या था दूध में कटा हुआ एक केला। मैं बड़ी हैरान हुई। खानादारी के दिन हमारी मास्टरनियां हमारे बनाए तरह तरह के पकवान खिलाने को घर से बच्चों तक को बुला भेजती थीं पर ये इन्स्पैक्ट्रैस होकर भी सिर्फ दूध और केला खा रही थी। मैं बड़ी प्रभावित हुई। उन्हें देख कर मुझे अपनी सीता मास्टरनी याद आई थी। जिन्हें हैडमिस्ट्रैस ने अंग्रेज़ इन्स्पैक्टर से पंजा मिलाने को खूब तैयार किया था पर पंजा मिलाते ही वह अपनी सुत्थन कसे खिलका कुर्ता पहने व दोहरी बुक्कल वाले दुपट्टे समेत धड़ाम से गिर पड़ी थी।

आज उसी स्कूल में इन्स्पैक्टरनी महोदया दूध में डाल कर केला खा रही थीं।

श्रीमती ठुस्सु को मेरी हैडमिस्ट्रैस ने बताया था कि मैं प्रो० जयदेव शर्मा की बेटी हूं। उन्हें जरूर याद होगा। मां को रोते देख मेरे तन बदन में आग लग गई थी। उन दिनों पिता जी की पैन्शन लगने की बात भी चल रही थी। हम जानते थे। मैंने मां से कहा तुम नौकरी छोड़ देना। वो रात मैंने किस तरह काटी ये मैं ही जानती हूं। सुबह मैं तैयार होकर स्कूल के बदले श्रीमति ठुस्सु के घर पहुंच गई। तब मेरा जम्मू शहर डस्टबीन न था। हर कोई हर किसी का घर जानता था।

इन्स्पेक्ट्रैस की मटक्को चपरासिन ने मुझे बाहर स्टूल पर बिठा कर हिकारत से देखा और कहा।

"भैन जी न्हारी कर रही हैं। तुम बैठो।" मुझे हंसी आ गई। मैंने सोचा ये मूर्ख नहीं जानती कि इन्स्पैक्ट्रैस न्हारी नहीं करती वे ब्रेकफास्ट करती है। खैर, वक्त पर श्रीमति ठुस्सु ठक् ठक् करती बाहिर निकलीं। उन्होंने मुझे पहचान कर कहा।

—तुम प्रो० जयदेव शर्मा जी की बेटी हो न ?

मैंने गुस्से में कहा—

—जी हां, और जिस उस्तानी को कल आपने खड़ीकां स्कूल में डांटा है वो मेरी मां है और प्रो० जयदेव शर्मा की पत्नी है। वो अब आपके स्कूल में नौकरी नहीं करेंगी।

खूब गुस्से में मैंने ये सब कहा था पर फिर मैं रूआंसी हो गई और उनका उत्तर सुने बिना ही चली आई।

ज़िन्दगी के साथ उलझने का यह मेरा पहला मौका था।

हां, पिता जी की पेन्शन लग गई थी और मां ने नौकरी छोड़ दी थी

हमारे घर का द्वार खुला रहता था जिसके भीतर हमारी मां सूरज की तरह चमकती रहती थी।

मेरी बुआ जी के पुत्र पं० महेन्द्रनाथ जी रिश्ते में तो मेरे भाई थे पर पिता जी से बड़े थे सो मुझे कोई बुआ की नज़र से न देखता था। टायफाइड होने पर वहीं उनके घर में मेरी बुआ जी ने मुझे बचा लिया था। बाद में गंजी होने पर महेन्द्रनाथ भापा जी मुझे गटारी कहा करते तो सभी गटारी ही कहते। सभी मुझे बड़ा प्यार करते थे। उनकी सब से छोटी बेटी विजय मुझ से तीन चार बरस बड़ी थी पर हम सहेलियों की तरह रहती थीं। बचपन की देहरी मैंने उसी घर में पार की, जवानी आते आते आ गई तब मैं कवयित्री भी हो गई थी।

छुट्टियों में मैं हर बरस अपने गांव पुरमंडल जाती थी। पुरमंडल में देविका बहती है। शिव मन्दिर हैं। उन्हीं की वजह से मेरा गांव तीर्थ स्थान है। मेले लगते हैं। श्राद्ध होते हैं। यहां तक कि अस्थियां भी प्रवाहित होती हैं। अपने गांव की बात करूंगी तो फिर रुक नहीं सकती। बकौल गालिब—

"जिक्र उस परीवश का
और फिर बयां अपना।"

ताई के दुर्व्यवहार से दुःखी मां गांव न जाती थीं पर मुझे उन्होंने कभी नहीं टोका। गांव की एक औरत पूछती।

तेरी मां क्यों नहीं आती।

दूसरी कहती। "इसकी ताई एक साल तो उसका कटवा न सकी अब वो यहां क्या करने आएगी?" मुझे बड़ा बुरा लगता। मां तो मां ही थी परन्तु मैं अपनी ताई को भी बड़ा प्यार करती थी।

हमारा घर पहाड़ पर बना है। इसलिए हमें 'ढक्का आल्ले पन्त' कहते हैं। पहाड़ से बड़ा मोह था मुझे। बरसात में पहाड़ पर घूमती रहती, पत्तों से लुढ़कती बून्दों की आहट पहचानती, नहाये हुये पेड़ों की फुनगियों से झड़ती बून्दों का खिलखिलाना सुनती रहती। भरे हुये गड्डों के ठहरे हुए पानी में अपना मुंह देखती रहती, ढलान पर उगी मोतिया की बेल से फूल चुराती और बीरबहूटियों को माचिस की डिब्बी में भरने से पहले हाथ पर रख कर उसका सौन्दर्य निहारती रहती। अहा, क्या दिन थे।

नवरात्रों में जिसके घर देवी रखी जाती वहां शाम को सब लड़कियां इकट्ठी होकर माता की भेटें गातीं। जब खत्म हो जाता था तो डोगरी के लोकगीत गातीं। यहीं मैंने आठ नौ बर्ष की उम्र में गीतों के बन्द जोड़े थे। किसी को शक न हुआ था। सब सोचती ये ज्यादा जानती है। पुरमंडल में

ही एक बार 'मक्खनी दी बांई' में पानी भरते वक्त एक गीत का मुखड़ा बावड़ी में चांद की तरह उतर आया था। मैंने गुनगुनाया तो मेरी सहेली ने पूछा— ये गीत कहां से सीखा। मैं ऐसे शरमा गई जैसे मेरी कुड़माई की बात हुई हो। कभी सोचती हूं मैं कितनी भाग्यशाली हूं। मैंने न सिर्फ लोकगीत बनते फैलते देखे हैं बल्कि उनमें योगदान भी दिया है। जम्मू स्कूल में सुबह प्रार्थना भी मेरी ही लिखी हुई होती थी पर यह बताने में बड़ी शर्म आती थी। फिर हाई स्कूल में तो हिन्दी में लिख कर शनिवार की डिबेट में पढ़ने लगी थी। वो कापी आज भी मेरे पास है। तब उसकी कीमत आठ आने थी आज पता नहीं कहां चढ़ गई होगी। उन्हीं दिनों मैं खोई-खोई रहने लगी। शिद्दत से ये अनुभूति होने लगी कि मैं हवा में उड़ रही हूं। हल्की हो गई हूं। मेरे कदम ज़मीन से ऊंचे हैं।

कालेज में गई ही थी कि डोगरी का एक भव्य मुशायरा हुआ। वहां मेरी सखि चन्दर रामपाल के भाई दुष्यन्त रामलाल जिन्हें हम सब दुश्शी भापा कहते थे, उनके कहने पर मैं कवि सम्मेलन में गई। स्वर तो अच्छा था। सस्वर गीत पढ़ कर आई तो मारे डर के ठंडी हो गई। और हम चन्नी पान वाले की दुकान पर गये पानी पिया तो सांस फिरी। रातों रात मैं चर्चित हो गई थी।

डोगरी की पहली कवयित्री का खिताब एवं जिम्मेदारी का एहसास और मनों खुशियां लेकर आया था। कौन रटता कैमिस्ट्री कौन पढ़ता फिज़िक्स ? बस कविता ही ओढ़ना बिछौना हो गई। अब तक वाह वाह न सुनी थी। सुनने पर जैसे मैं दीवानी हो गई। डोगरी संस्था में डोगरी के दिग्गज कवियों के सामने कविता पढ़कर आती तो विश्वास ही नहीं होता। कविता एक भूतनी की तरह चिमट गई थी। मुखड़े और अतरे गेंद की तरह ऊपर नीचे होते रहते। ज़मीन पर लगते ही आसमान पर पहुंच जाती। राजा की मंडी से गुज़रती तो मौलश्री की महक मेरे तन बदन की सुधियों में रम जाती। नहर का पानी भिगोकर छोड़ जाता। लोगों की पहचानती नज़रें अच्छी लगतीं। मैं उन दिनों बड़ी दुबली पतली थी। मेरी एक सहेली काफी मोटी थी। हम दोनों कालेज में एक साथ होते तो लड़के छेड़ते।

'एक शायर

दूसरा डनलॉप टॉयर,...

मुझे तो बुरा न लगता पर वह हत्थे से उखड़ जाती। धीरे धीरे उसने मेरे साथ चलना बन्द कर दिया।

इन हालात में जब एक उभरती शायरा को हर चीज सुन्दर दिखाई देने लगे तो ज़िन्दगी का हसीन तरीन हादसा हो गुज़रता है। डोगरी के मायानाज़

वेदपाल दीप जी के खूब चर्चे थे। उनका शराब तक पीना बड़ा रोमांटिक लगता था। उनकी एक गज़ल जो उन्होंने अपनी किसी माशूका के नाम लिखी थी मुझे बड़ी अच्छी लगती थी।

मिगी तेरें ने प्यार ऊयां गै जियां क हा
तेरा बने दा प्यार ऊयां गै जियां क हा
हिरखै दी रीत रस्म ऊयां गै जियां क ही
कुरते दा ओ लंगार ऊयां गै जिया क हा

जब मैंने दीप साहब को देखा तो मुझे लगा ये गज़ल वो मुझ पर लिखते तो दुनिया में क्या नहीं होता।

मुहब्बत आग की तरह होती है। उसने अपनी लपेट में हम दोनों को ले लिया। तब मैं राजा के महल कविता लिख चुकी थी और दीप साहब भी कवयित्री से मुत्तासिर थे। पर किन वजहों से ज़िन्दगी उस खेमें में काटनी नामुमकिन हुई वो इस मुख्तसर से लेख में लिखना असंभव है।

मेरी उम्र के 18, 19 और 20 वर्ष श्रीनगर के द्रोगजन अस्पताल में बीते। मुझे अंतड़ियों की टी. बी. थी। वहां मैंने ज़िन्दगी को पहचाना। मेरे बचने की कोई उम्मीद न थी। वहां डॉ० हफीज़ुल्लाह साहब थे। डॉ० ताहिर मिर्ज़ा, डॉ० मुन्शी, डॉ० काशकारी थे। मैं बच गई तो सभी की चहेती हो गई। ज़िन्दगी का हर मोड़ सुन्दर होता है। ज़िन्दगी का दिन भी, रात भी। अस्पताल में मैंने ज़िन्दगी को करीब से देखा। कश्मीरी भाषा सीखी, उर्दू सीखी। कश्मीरी होकर रही। लोग मुझे फ़ातिमा कहने लगे। कश्मीरी लोगों का डोगरा लड़की के लिए प्यार क्या कुछ सतरों में कहा जा सकता है?

7 जनवरी 1961 को में अस्पताल से निकली। जम्मू आकर अपना स्थान प्राप्त करना चाहती थी पर वो न मिला। डोगरी संस्था में गई तो स्व. दीनू भाई पन्त जी ने कहा।

"पद्मा जी आप बड़ी हो गई हैं। ये आपकी कविता से पता चलता है।"

ये बहुत बड़ा कम्पलिमैन्ट था। रेडियो में नौकरी की। पांव पर खड़ा होने पर भी लोगों ने पांव न जमने दिये। क्योंकि मैं बेचारी होकर नहीं जी सकती थी। 1963 में मैं दिल्ली आ गई। यहां रेडियो में डोगरी की समाचार-वाचिका होने पर मुझ में आत्मविश्वास और बढ़ गया।

मेरे पति सुरिन्दर सिंह जी जम्मू रेडियो में डयूटी अफ़सर थे। वो एक अच्छे क्लोग थे। उन्होंने ही मुझ से कहा था:

यहां लोग आपको जीने न देंगे आप दिल्ली चली जाइये।

इस जगह मैं मरहूम मुख्य मंत्री बख्शी गुलाम मुहम्मद जी का जिक्र न करूं तो ज्यादती होगी।

उन्होंने ही दिल्ली आने से पहले डॉ० हफीजुल्लाह साहब (जिन्हें मैं अब्बा कहती थी) को मेरे लिए डी. जी. भट्ट के नाम पत्र दिया था। भट्ट साहिब ने पूछा था कि आप जहां चाहें वहां भेज देंगें। मैंने दिल्ली में रहना ठीक समझा। सरदार सुरिन्दर सिंह जी का परिवार यहां था। और उनके भी यहां आने का इमकान था। उस वक्त मुझसे कोई बात न करना चाहता था। मैं लीक से हटकर जीना चाहती थी। ये किसी को पसन्द न था।

खैर कड़ुवा घूंट पी कर मैं दिल्ली आ गई। यहां मेरी बहिन विजय व उसके पति मेरे जीजा हंसराज पंडोत्तरा ने जो मेरी मदद की वो जज़्बा आज तक उतना ही ताजा है। यह कहकर कि मैं उनकी आभारी हूं मैं उन्हें छोटा न करूंगी। उस वक्त विजय के अलावा यहां दिल्ली में श्रीनगर की मेरी सहेली पिन्नी की बहिनें थीं जो मुझे बेहद प्यार करती थीं। तोषी भैन जी ने ही 24 जनवरी 1966 को मेरी शादी सरदार सुरिन्दर सिंह जी से करवा दी। शादी चल निकली और आज तक चल रही है। इसका श्रेय मेरे पति को तो जाता ही है पर मेरी सास को भी जाता है। वे मुझे बहुत प्यार करती थीं। शादी को 27 वर्ष हो रहे हैं। इनके घर में सभी ने मुझे जो प्यार दिया उसी से मेरा व्यक्तित्व निखरा है। गृहस्थी में पति के सान्निध्य में मैं कवयित्री को भूल गई। तब मेरे पति ने ही एक दिन कहा था "मैंने तो एक कवयित्री से शादी की थी। आप खाली गृहस्थिन हो गई हैं।"

1967 में मेरी पुस्तक 'मेरी कविता मेरे गीत' छपी। उसके 1800 रुपये मेरी सास ने अपनी जेब से दिये थे। किताब मेरे जीजा जी हंसराज पंडोत्तरा ने ही छपवाई थी।

1970 का जब साहित्य अकादमी पुरस्कार इस पुस्तक पर मिला तब मैं बम्बई में थी। मैंने सात साल समाचार पढ़े थे। सब मुझे जानते थे। हर बुलिटन में मेरा नाम आता था। मैं रातों रात बम्बई में जानी जाने लगी। कई संस्थाओं ने मेरे सम्मान में पार्टी दी। पर सबसे उत्तम पार्टी वो थी जो हमारी रियासत के भूतपूर्व वाइस चान्सलर फौजी साहब की पत्नी सुल्ताना फौजी ने दी थी। उन्हें मैं श्रीनगर से जानती थी। उन्होंने मुझे और मेरे पति को लिफाफे में रुपये भी दिये। उर्दू के तकरीबन सभी नामी लेखक आये थे।

बम्बई एक ऐसा शहर है जहां आप भीड़ में अकेला महसूस कर सकते हैं। यही वहां का सबसे बड़ा सुख है। दूसरा सुख है समन्दर जो कभी पुराना नहीं होता। आशिक की तरह रंग बदलता रहता है।

हमारे मुहल्ले में ही प्रख्यात गायिका लता मंगेशकर रहती थीं। मेरे बेहद आग्रह करने पर उन्होंने डोगरी के गीत गाये। वो रिकार्ड हज़ारों में बिका।

वहीं डॉ० धर्मवीर भारती और पुष्पा भाभी के प्रोत्साहन में मैंने लघु गद्य लिखना शुरू किया। डॉ० धर्मवीर भारती को मैं राखी बांधती हूं। उनका स्नेह मेरे लेखन को बहुत बल देता है।

बम्बई में ही मेरी बेटी पैदा हुई। मां बनने के सुख से बड़ा और कोई सुख स्त्री के लिए नहीं है।

1984 से हम दिल्ली में हैं। यहां साहित्य जगत ने जो स्नेह व सम्मान मुझे दिया है उससे मुझे भीड़ भरी राजधानी अच्छी लगने लगी है। जिन्दगी की बावड़ी से एक बूंद आपको देते हुए ग़ालिब का शेर याद आता है।

वरक तमाम हुआ और मुद्दअ: बाकी है
सफ़ीना चाहिये इस बह्रे बेकरां के लिए

बहिरंग

ओम गोस्वामी

जैसे सिक्के के दो पहलू होते हैं, उसी तरह सफलता और अनुभव यात्रा के टेढ़े-तिरछे पहलुओं से गुज़र कर बना है पद्मा का व्यक्तित्व—जो खरे सिक्के की साक्षी देता सदा खनखनाता और खिलखिलाता रहता है। पहली नज़र में कोई भी उसे ग्लेमर की दुनिया से निकल भागी एक छुई मुई समझ लेगा। परन्तु ज़रा करीब से देखने पर उसका बौद्धिक गांभीर्य स्वत: उजागर होने लगेगा। केले के तने की नीचे की परत के समान उसके व्यक्तित्व के कई पहलू हैं। परतों में ढंपे व्यक्तित्व का सब से नुमायां पहलू यह है कि एक परत को जानकर आप नहीं जानते कि नीचे की परत में क्या है। उसका हरेक पहलू नया और आकर्षक होता है। शायद इसी वजह से सुप्रसिद्ध पंजाबी लेखिका अजीत कौर ने जिस पद्मा को स्कूल-कालेज की कोई अलहड़ लड़की समझ रखा था, बाद में मुलाकात होने पर उसे जम्मू की 'हब्बा खातून' कहा। पद्मा की कविता का अवगाहन करने पर वह उसके व्यक्तित्व की एक और परत को उद्घाटित करती है—"पद्मा सचदेव की कविताओं और गीतों में कमल के पत्ते पर थिरकती पानी की बूंद का उल्लेख बार-बार आता है। मुझे लगता है पद्मा सचदेव खुद वह पानी की बूंद है, जो ज़िन्दगी के कमल-पत्ते जैसी हथेली पर आ टिकी है। एक अनन्त थिरकन, चुलबुली-सी एक कंपकंपी जो पत्ते की हरीतिमा को भी अपने में समो लेती है और सूरज के सातों रगों को भी। डोलती है पर गिरती नहीं। थिरकने के बावजूद ज़िन्दगी पर उसकी पकड़ बहुत मज़बूत है...।"

कमल पत्ते पर टिकी ओस की बूंद अपने भीतर से गुज़रने वाली प्रकाश किरणों को इन्द्रधनुषी आभा देकर अनाम क्षितिजों को छू रही है। आज नामवरी के शिखर को छू रही पद्मा का आरम्भिक साहित्यिक जीवन निहायत सादा था। लोकगीतों को गाते हुए एकाध तुकबन्दी खुद गढ़ देती। इसी से पद-रचना का अभ्यास हुआ। पांचवें दशक में डोगरी संस्था के दिग्गजों में बैठ कर कविता पाठ करने वाली वह एक मात्र लड़की थी। स्कूल की झक सफेद

वर्दी पहने वह मानो खरगोश की तरह देवदारों के साये तले बैठी रहती। बजुर्ग लोगों से उचित प्रोत्साहन पाकर खामोशी में आकंठ डूबी यह बालिका धीरे-धीरे कविता नदी के प्रवाह में बे-धड़क उतराने लगी और शीघ्र ही लहरों से वाकिफ हो गई। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी यदि कहा जाए कि पद्मा के पांव तले सफलता ने उससे शुरूआती साहित्यिक दौर में ही सुखं पांवड़े बिछा दिए थे।

और अब उसने यौवन की दहलीज पर उस नौका में पांव रखा जिसे हर भारतीय लड़की "अपना घर" कहती है तो सहसा नियति की नज़र-सी लग गई उसकी बिना मस्तूल की नौका को परिस्थितियों का अंधड़ बीच भंवर के पटक गया। आन्धियों के समक्ष आशा का मूक दीपक जलता रहा। इस दीपक की अग्निजिव्हा में ज्वालामुखी की आभा देखकर न केवल साहित्यकार बल्कि उस समय का तमाम कट्टरपंथी समाज दंग था। पद्मा जीवन की पराक्रमी है। औसत औरत से उसने ज्यादा सहा है। ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसने मर्द बन कर तूफानों को झेला है। उस घर में मिसफिट इस लड़की के लिए जैसे पति की उपेक्षा ही काफी न थी, नियति ने इस छूई मुई को क्षय रोग की अन्धियारी कारा में धकेल दिया। बरसों वह अकेली, बिना अपनों के घर से दूर कश्मीर के अस्पताल में जीवन के पलों से जूझती सुहाने सपने बुनती रही। बेगानों की सहानुभूति पाकर पुनर्जीवन मिला। अपनों का तिरस्कार जैसे भाग्य में बंधा था।

भाग्य की उठा—पटक से वह संभली तो पद्मा शर्मा से पद्मा सचदेब बनकर उभरी। वर्षों बाद 1989 में वह मुझे बतलाती है कि एक बार सरदार साहब कहने लगे—"पद्मा आप तो एक फूल थीं कमल का—निष्पाप। न जाने आप जैसी देवी को वे लोग क्यों कर अपना न पाए।" यह बतलाते हुए पद्मा की आंखें आंसुओं से भीग रही थीं।

आज उसका व्यक्तित्व कुंदन की भांति चमक रहा है। उसकी बातों में झलकने वाला दबंग स्वर अतीत की उसी अग्नियात्रा की परछाई है। यह जो ठान लेती है उसे करके रहती है। एक दिन डोगरी संस्था से निकलते हुए एकाएक पूछती है—"ओम तू समझता है, जो मैं दिखती हूं क्या मैं वहीं हूं।"

मैं जानता हूं वक्त के थपेड़ों ने उसे बेहद मज़बूती दी है। पुख्ता अनुभवों का खज़ाना जिसके पास हो, मज़बूत इरादा हो—वह कमज़ोर कभी नहीं हो सकता। साहित्यिक राजनीति के प्रति उसे विशेषतया सजग देखकर मेरे एक प्रश्न के उत्तर में यह प्रश्न उभरा था—"जो मैं दिखती हूं क्या मैं वही हूं ?"

मुझे मौन देखकर उसने स्पष्ट किया—"ओम, पीपल का झाड़ जितना बाहर होता है, उसे दोगुना फैलाव इसकी जड़ों का धरती के भीतर होता है।

शायद इन्हीं जड़ों की देन है कि वह जहां रही वहीं उसने एक छोटा-सा जम्मू बना लिया। ऋषि विश्वामित्र की तरह एक समांतर संसार रचते हुए उसने न केवल बम्बई, बल्कि दिल्ली में भी डोगरों को एक माला में पिरोकर जम्मू को अपने हाथों से दूर नहीं जाने दिया और यह सुखद सत्य है कि उसे केन्द्र में रहना पसन्द है—यानी ऐसी स्थिति में जहां वह 'बुआ फाता' की तरह अपने लोगों से घिरी रहे।

उसने ऐसा बहुत कुछ किया है जो डोगरा सांस्कृतिक खंड के लोगों को उसका उपकारी बना देता है। लता मंगेश्कर और महेन्द्र कपूर की सुरीली आवाज़ों में डोगरी गीत गवा कर, जगह-जगह डोगरी भाषा की पैरवी करके अथवा कहीं सम्मानित होने पर सारा श्रेय अपने भाषा-भाषी लोगों को देकर—उसने अपार सुख पाया है।

साहित्य के गहन बीहड़ में उसने अपने रास्ते और अपनी दिशाएं खुद चुनी हैं—इसलिए उसका कहना है कि मेरा कोई गुरु नहीं है, लोकगीत मेरे गुरु हैं। इस विनम्र स्वीकार से मानो उसने अपनी रचनात्मकता में विद्यमान कोमल संस्पर्श के रहस्य से पर्दा हटा दिया है। साहित्य में लोक-भावना का सन्निवेश कराके उसने मानो साहित्य के बुत में आत्मा का प्रवेश करा दिया है।

मेरा मानना है कि डोगरी भाषा को पद्मा ने जितना दिया है बदले में उतना पाया नहीं। मातृभाषा से ज्यादा उसे हिन्दी में सम्मान एवं प्रतिष्ठा मिली है। ईर्ष्या दंश से व्याकुल लोगों ने उसकी सफलता को विवादों के घेरे में लाने के लिए कई अफवाहें फैला रखी हैं। मसलन उनका कहना है कि पद्मा का पी० आर० पब्लिक रिलेशंज़ बहुत ''पावरफुल है और यह कि उसकी सफलता 'किटी पार्टीज़' का उत्पादय है।

इन बेहूदा बातों को यदि सच भी मान लिया जाए तो प्रश्न उठता है कि क्या साहित्य में शक्ति न होने पर भी पद्मा मात्र पी० आर० के बलबूते डोगरी और हिन्दी में वह स्थान बना सकती थी जो आज उसका है। साहित्य में जीवन की ऊर्जा पैदा किए बिना चर्चित होना क्या सम्भव है?

डोगरी साहित्य को कोमल सुरीला संस्पर्श देकर उसने कविता में महक रच दी है। नारी मन की सहज कोमलता उसके काव्य में चित्रकार के रंगों की भांति रच-बस गई है। इतना ही नहीं डोगरी साहित्य आन्दोलन को उसने एक विशिष्ट संस्कार दिया है। यह संस्कार है निज भाषा प्रेम का और अपनी परम्पराओं और संस्कृति को बनाए रखने का। वह गम्भीर से गम्भीर मुद्दे को सहज एवं हंसीली-चुटीली शैली में रखने में महारत रखती है। प्रत्युत्पन्नमति से वह बड़ों-बड़ों को लाजवाब कर देती है। व्यंग्य की मर्यादा की वह जानकार है।

वह भारत के किसी सुदूर कोने में हो रही किसी गोष्ठी में उपस्थित हो अथवा विश्व में अन्यत्र कहीं लेखकों के संग बैठी हो—अपनी मातृभाषा से अपरिचित लोगों को मूल भाषा में विरचित कविता सुनाकर पहले तो अपनी भाषा की मिठास के लिए दाद लेगी और साथ ही साथ उसका अनुवाद सुनाकर अपनी उदात्त वैचारिकता के लिए पुनः दाद पाएगी। वह अपनी भाषा से अपरिचित लोगों को बतलाएगी कि डोगरी दुनिया की सब से मीठी भाषा है।

डोगरी भाषा की मिठास मात्र मिथ नहीं है, बल्कि, पद्मा का साहचर्य पाकर तो यह निश्चय ही भाषाओं की रानी लगती है। मां—बोली मानो पद्मा का ईश्वर और ईमान दोनों हैं। किसी सधे हुए चित्रकार की तूलिका एवं रंगों की तरह वह शब्दों को भावों में पिरोना जानती है। कवयित्री तो वह है ही, किन्तु गद्य में तो वह और भी मुखर हो उठती है। 'गोद भरी' की कहानियां पढ़ कर मैं सहसा कह उठता हूं—"आपकी कविताओं से कहानियों में कहीं ज्यादा कवित्व है।"

वे चमत्कृत-सी मेरी ओर देखती रहती है—"ओम, तुम्हारी राय की मैं कद्र करती हूं, पर कहानी लिखना उतना आसान नहीं, जितना कि कविता है जो मेरे लिए जीवन-सी सहज है।"

पद्मा सचदेव, पद्मा शर्मा से 30 वर्ष आगे निकल चुकी है। पद्मा शर्मा की कविता में जहां कमसिन भावनाओं का अन्तः-स्पर्श है वहीं पद्मा सचदेव की कविता में भावों की हृदयहारी अक्कासी देखी जाती है जो निश्चय ही उसकी कविता यात्रा में आगे की स्थिति है। किन्तु एक बात मेरी समझ से परे है कि क्यों पद्मा सचदेव अभी तक तुक का आश्रय लेना नहीं छोड़ पाई जो कि किसी कमसिन कलम की कमज़ोरी होती है। कभी-कभी तुक जोड़ने के लोभ में कवि भाव एवं विचार की मुख्य धारा से भटक जाता है। तुक बैठाने का मोह कविता को किसी कदर कमज़ोर कर देता है।

चूंकि गद्य में तुक की नहीं, लालित्य की प्रधानता होती है, इसलिए पद्मा बतौर गद्य लेखिका ज्यादा सशक्त कहानियां और उपन्यास दे पाई है। "शब्द मिलावा" में उसके गद्य का सौंदर्य स्वतः प्रमाणित है—जहां प्रकाशित प्रत्येक कविता की सृजन भावभूमि को गद्याभिव्यक्ति प्रदान की गई है। भाव लालित्य से संगुंफित गद्य के समक्ष आलोच्य कविता फीकी दिखने लगती है। सम्भवतया इसका कारण यह है कि तुक की बंदिश न रहने से कृत्रिम रुकावटें हट जाती हैं और पद्मा में तुक का मोह क्यों है ? शायद इसके द्वारा वह छुई मुई पद्मा शर्मा के अतीत के कवि—अनुभव की स्मृति को संजोए हुए हैं।

जब से उसने कहानियां और उपन्यास लिखना शुरू किया है मुझे लगा है उसकी प्रतिभा तमाम अन्तर्निहित उपादानों सहित प्रकट होने लगी है।

कवयित्री के रूप में उसका व्यक्तित्व जो अधूरा था अब गद्य का आश्रय पाकर समन्वित हो गया है । गद्य द्वारा उसने अपनी प्रतिभा के अप्रकट पक्ष को प्रकाशित किया है । "अब न बनेगी देहरी" पढ़कर पाठक अभिभूत रह जाता है । मेरे मानस पटल पर प्रश्न उभरता है "राजे दियां मंडियां" पर उसे मिली शोहरत इस औपन्यासिक उपलब्धि के समक्ष कितनी नगण्य थी, उथली । पहले ही उपन्यास से अपने रचनात्मक जीवन का उत्कर्षशाली क्रोश—स्तम्भ स्थापित कर देना क्या मामूली बात है ?

जम्मू में नामवरी के झंडे झुलाने वाले लोगों के समक्ष एक प्रश्न चिन्ह-सा खड़ा है । हम लोग जो निरन्तर डोगरा संस्कृति में जिए हैं—क्यों अपनी भूमि से कटे रहे हैं ? जबकि परिस्थितियों का देश निकाला भोगने वाली पद्मा ने दशकों इस सांस्कृतिक खंड से दूर रहकर भी एक ऐसी यादगार रचना दी है जिसे डुग्गर प्रदेश की संस्कृति के श्वासों से बुना गया है । इस उपन्यास को दो बार पढ़ कर भी मेरी तृष्णा ज्यों की त्यों बनी रहती है । ऐसी विहंगम अनुभूति एक दशक पूर्व कृष्णा सोबती का "ज़िन्दगीनामा" पढ़कर हुई थी । पद्मा के इस प्रयास को मैं डोगरा संस्कृति के अतीत का दस्तावेज़ मानता हूं । यद्यपि यह हिन्दी में है तो भी डोगरा संस्कृति के हितैषी लोग पद्मा के आभारी हैं जिसने इस भूमि के जीवन्त चरित्रों को अपनी लेखनी द्वारा जीवनदान दिया है ।

करीबी दोस्तों से गपशप में जम्मू-कश्मीर के सर्वश्रेष्ठ रचनाकार की बात चलती है तो सहसा मेरे मुंह से निकल पड़ता है—"गद्य क्षेत्र में आने के बाद पद्मा ने सिद्ध कर दिया है कि वस्तुत: वही इस स्थान की हकदार है ।"

मेरा एक मित्र एकाएक अपनी हथेली से मेरा मुंह बन्द कर देता है—"यह सच बात है, मगर बहुत से लोगों को पचेगी नहीं और वे आपकी जान के दुश्मन बन जाएंगे ।"

पद्मा को डोगरी के मुकाबले हिन्दी में ज्यादा माना जाता है । वह दो भाषाओं में स्थापित है । मैं समझ नहीं पाता हम जो कि खुद को डोगरी भाषा के साधक कहते नहीं अघाते—इस बात का उपकार क्यों नहीं मानते कि एक वृहद क्षेत्र सामने होते हुए भी वह अपनी मां—बोली को भूली नहीं है । ऊंचे स्थान पर पहुंच कर भी उसने अपनी जड़ों—अपने लोगों, अपने पूर्व परिवेश को धिक्कारा नहीं है । नम्रतापूर्वक वह एक के बाद एक पुस्तक मातृभाषा को भेंट करती रही है ।

उसके बारे में लोगों को एक भ्रम है कि वह सेठानी है । शायद इसीलिए नीलाम्बर जी प्राय: इसे 'शाहनी' कहते हैं । चूंकि पद्मा का एक अर्थ लक्ष्मी भी है, इसलिए उनका भ्रम अनुचित नहीं लगता । डोगरी भवन के निर्माण में उसने यथोचित अनुदान का योगदान भी दिया है ।

जम्मू के एक पुरातन धार्मिक स्थल पुरमडल की यह लड़की आज भारत के हृदय दिल्ली का एक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व मानी जा रही है तो क्या इसलिए कि वह कोई धन कुबेर है ? नहीं, बल्कि लेखनी की शक्ति से तमाम विरोधों को नकारते हुए वह दिल्ली के दिल में समासीन है। अपने बचपन के गांव और कस्बे से उसने असंख्य अनुभव बटोरे हैं। कई पात्रों, कई स्थितियों से साक्षात्कार किया है। जभी "अब न बनेगी देहरी" जैसी मर्म स्पर्शी रचना का सृजन हो पाया है। मैं प्रतिक्रिया व्यक्त करता हूं—"आपने जीवन्त पात्रों को शिवानी जी की शैली में प्रस्तुत करके इसे रोचक उपन्यास बना दिया है।" सुन कर वह भाव विह्वल हो उठती है—"भइया, तू सच कहता है। मैं शिवानी जी से प्रभावित हूं। मुझे यह कहते हुए गर्व महसूस होता है।" बच्चों जैसी सादगी और निस्संगता से वह तुरन्त कह देती है।

"अपनी कहानियों और उपन्यासों के लिए ऐसे दम-खम वाले पात्रों का चुनाव आप कैसे कर लेती हैं ?"

पात्र खुद अपनी भाषा जानते हैं। उन्हें उनकी भूमिका में मैंने जब लक्षित किया था तब मालूम न था कि आगे चलकर उन्हें मेरी कलम पर उतरना है।"

"व्यतीत को स्मरण करना कैसा लगता है ?"

"कुछ सुखद पल हैं और कुछ पलों को याद करके मन में कड़वाहट भर जाती है। मुझे याद है जब जिन्दगी के चौराहे पर मैं अकेली खड़ी थी, मेरे शहर के किसी व्यक्ति ने मेरा हाथ नहीं पकड़ा—एक आदमी ने मुझे सहारा दिया था और एक दृष्टि से यह ठीक ही हुआ। तब सरदार जी ने कहा था—आप जम्मू से चली जाएं। यहां लोग आप को जीने न देंगे। उस दौर में अनंतराम शास्त्री जी का नैतिक समर्थन भी मुझे जीवन की चुनौतियों का सामना करने में सहायी सिद्ध हुआ।"

"आपको पुरमंडल—उत्तरवाहिनी और वहां के लोगों की याद आती है ? जो आगे चलकर आपके साहित्यिक अनुभव के लिए एक खजाना सिद्ध हुए।"

"हां, मैं उन सब की आभारी हूं।"

"आपको कभी ख्याल आया ? कि उस क्षेत्र के लोगों का जीवन स्तर बेहतर बनाने के लिए आप कुछ करतीं।" मैं नीलाम्बर जी की धारणा के अनुसार उन्हें सेठानी मानते हुए पूछ लेता हूं।

वे संजीदा हो जाती है—"भइया, तू क्या मुझे उस स्थिति में पाता है कि वहां कोई उद्योग खोल दूं।"

मुझे अपने प्रश्न की सारहीनता का आभास होता है। नाम पद्मा है तो क्या, कर्म तो सरस्वती वीणावादिनी का है।

"क्या फरमाइश पर भी आप लिख लेती हैं—जैसे मुशायरे, रेडियो आदि की जरूरत के मुताबिक ?"

"आई एम ए पोयटेस। अनलेस एंड अनटिल आई फील समथिंग फार माईसेल्फ आई कांट राइट ए सिंगल लाईन।"

परिचित लोगों में पद्मा के लिए सम्मान की भावना है। कुछ लोग जो उसके विरोधी थे आज उसकी उपलब्धियों के समक्ष नतमस्तक हैं। उसने लोगों का हृदय परिवर्तन पूर्व अंकित रेखा को मिटाकर नहीं, अपितु उसके ऊपर एक लम्बी रेखा खींचकर किया है। उसमें बदले की भावना नहीं है। इस प्रसंग में उसका कहना है—"आई हैव फारगाटन दोज़ ओल्ड थिंग्ज़। जब मैं रेडियो पर काम करती थी किसी बात पर एक चपरासी नाराज़ हो गया। जब तक उसे पास बिठा कर चाय नहीं पिलाई और अपनी भूल का पश्चाताप नहीं कर लिया मुझे चैन नहीं आया।"

यही एक ऐसी चीज़ है जो उसे समकालीन लेखकों के मुकाबले में ऊंचा उठा देती है। "मेरे घर में कागज़ चुनने वाली औरत भी उसी सम्मान से बैठती है जैसे मेरी कोई लेखिका मित्र।" वे सद्भाव से बतलाती हैं। स्थानीय साहित्यिक राजनीति से वह अलग रहती आई है। बहुत से प्रतिद्वन्द्वी लेखक जहां इस राजनीति का ग्रास बनकर चुक गए हैं, वहीं पद्मा अबाध गति से सृजन की राह पर आगे बढ़ी जा रही है।

किंतु, दो एक वर्ष से सुनने में आ रहा है कि वह ठकुरसुहाती करने वालों की पुश्तपनाही करती है। और यह कि बहुधा उसे वे तमाम छुटभइये लेखक घेरे रहते हैं जिन्हें आगे बढ़ने के लिए पद्मा के असर-रसूख की आवश्यकता है। शायद अवसरवादी लोगों के साहचर्य के कारण इस दौरान वह कई भ्रांत धारणाओं से घिर गई है। उसे सबसे बड़ी गलतफहमी यह है कि लोग अपनी भाषा बोलना छोड़ रहे हैं।

यदि पद्मा का सम्पर्क इस क्षेत्र के देहातों से अब भी बना होता तो वे भाषा के अस्तित्व को खतरा महसूस न करती। राज्य में जब फ़ारसी और उर्दू राजभाषा पद पर थीं, तब डोगरी खत्म नहीं हुई तो अब कैसे हो जायेगी ? जबकि इसके उन्नयन के लिए समन्वित प्रयास भी किये जा रहे हैं।

सार्वजनिक मंचों पर अभिव्यक्त भ्रांत धारणा एक ओर जहां यह संकेत करती हैं कि वह सचमुच चाटुकारों से घिर गई है, वहीं डोगरी भाषा के प्रति उसका अनन्य लगाव भी प्रकट होता है कि कहीं इस भाषा का अहित न होने लगे। चूंकि पद्मा ने अनेक बार कहा है कि तू मेरे लिए अनुज श्रीकांत की तरह है, इसलिए उस हक में मैं कहना चाहता हूं कि उसे अवसरवादियों और चाटुकारों का घेराव तोड़कर अपनी स्वतन्त्र छवि को बहाल करना चाहिये।

बीते वक्तों में हमारे घरों में एक बुआ फातां होती थी। अड़ोस-पड़ोस के दासियों घरों में वह आदर पाती थी। किसी घर में लड़ाई-झगड़ा उभरने पर उसे अधिकार होता था चाहे जिसके कान उमेठे, गलतफहमियां दूर करने के लिए जिसे चाहे डांटे-डपटे। वह हमारे घरों में खुशी और गमी के अवसरों पर ईश्वरीय नुमांयदा बनकर मौजूद रहती।

पद्मा के पत्र पाकर मुझे बुआ फातां की स्मृति हो आती है। वह जो अपने स्नेह सूत्रों से डोगरी भाषी लेखकों के परिवार को अपनत्व की डोरी में पिरोए हुए है। एक बार जब उसे पता चला कि उसका सगा भाई ज्ञानेश्वर मेरा बाल मित्र और सहपाठी है तो तुरन्त मुझे पत्र मिला जिसमें अपनी विदेश यात्रा के संक्षिप्त ब्यौरे के उपरांत ताकीद थी कि आगे से औपचारिक सम्बन्धों के बजाए तू मुझे "बोबो जी" लिखा और बुलाया कर। यह अधिकार पाकर मैं कृतज्ञ हो उठता हूं।

जिन लोगों ने डटकर पद्मा का विरोध किया है उनके लिए भी उसने कभी सामने या पीठ पीछे अशिष्ट शब्दों का प्रयोग नहीं किया। विरोधी जब लौटकर उसके पास आते हैं तो उसका ऐसा व्यवहार होता है मानो कुछ हुआ ही नहीं था। इतना विशाल दृष्टिकोण होगा तभी न कोई स्नेहिल बुआ फातां के पद का अधिकारी होगा।

वह कलम की ताकत से मालामाल है। उसे तारीफ की ज़रूरत नहीं, बल्कि ज़रूरत है खुशामदी लोगों से बचने की ताकि उसके लेखन में निरंतर निखार आए। खुशामदी लोग तो सृजनशील कलम के लिए ज़ंग की तरह होते हैं। कौन रचनाकार चाहेगा कि उसकी कलम को ज़ंग लगे?

अंतरंग

डा० शिबन कृष्ण रैणा

आत्म-कथ्य लिखना किसी भी लेखक के लिए चुनौती भरा काम है। कारण अपने बारे में लिखना अच्छा तो लगता है किन्तु तभी सहसा दिमाग में एक और बात आती है कि 'लिखने' और 'बखानने' में, यानी आत्म-कथ्य और आत्म-प्रचार में स्पष्ट सीमा-रेखा खिच जानी चाहिए और उस रेखा को साफ-साफ उजागर करना ही एक लेखक की असली परख पहचान है।

कश्मीर मेरी जन्म-भूमि है। जन्म हुआ था श्रीनगर के पुरुषयार (हब्बा सप्तभी को। ईस्वी सन् के हिसाब से यह तिथि 22 अप्रैल, 1942 बैठती है। निम्न मध्यबर्गीय परिवार के तमाम अभावों और दबावों को विरासत में पाकर बचपन और किशोरावस्था के उद्दाम और वेफिक्री के दिनों को मैंने मन मारकर बिताया। पिता जी की प्राईवेट नौकरी हमारे सात सदस्यीय परिवार के लिए तन ढकने और दो जून का साग-भात जुटाने के लिए काफी न था। मां कहती है कि दुर्दिनों में हम ने कई-कई बार चावल का मांड पिया है और सत्तू खाया है। 'जबरी स्कूल' में ढाई आने फीस जमा कराने के लिए भी हमें कई बार उधार लेना पड़ा है। बड़ी मौसी की हैसियत हम से कुछ ठीक थी शायद सीमित परिवार के कारण। समय-असमय उसने हमारी बहुत मदद की है। कई बार मां ने मुझे उनके पास अलीकदल भेजा है और मैं तीन मील पैदल चल कर उनके यहां से कभी चावल, कभी आटा और कभी पांच-सात रुपए चुपचाप लाया हूं।

नौकरी के सिलसिले में पिता जी लम्बे समय तक जम्मू में रहे। रेडक्रास के दफतर में उनकी नौकरी थी। सर्दियों में हम जम्मू चले जाते और गर्मियों में वापिस श्रीनगर लौट आते। इस आवा-जाही के कारण मेरी स्कूली शिक्षा दो जगह हुई। जम्मू में घास-मण्डी स्कूल में तथा श्रीनगर में जबरी टंकी पोरा तथा श्री प्रताप हाई स्कूल में। सरकारी स्कूलों में जैसी पढ़ाई

और जैसा माहौल होता है, उसी को आत्मसात् करता मैं दसवीं पास कर गया। यह बात 1956 की है। दसवीं में मुझे अच्छे अंक मिले थे—कालेज में प्रवेश लेने के लिए बिषयों का सही चयन करना अनिवार्य था। मुझे याद है कि प्रवेश-फार्म भरते समय कालेज के एक अनुभवी प्रोफेसर साहब ने मेरे प्राप्तांकों को ध्यान में रखते हुए मुझे विज्ञान-संकाय में जाने की सलाह दी थी क्योंकि आने वाले समय में कला की तुलना में विज्ञान के विषयों का भविष्य रोज़गार की दृष्टि से उज्ज्वल था। मैट्रिक में विज्ञान के विषय न होने पर भी वे मुझे विज्ञान दिलवाने के पक्ष में थे। घर पर दो दिनों तक इस बात पर खूब विचार होता रहा। चूंकि पिता जी ज्यादातर जम्मू में रहते थे, अतः हमारे घर के सारे मुख्य निर्णय दादा जी लेते थे। दादा जी की अपनी विवशताएं, अपने पूर्वाग्रह तथा स्थितियों को समझने की अपनी दृष्टि थी। वे हिन्दी संस्कृत के अध्यापक तथा एक धर्म-परायण कर्मकाण्डी ब्राह्मण थे। विज्ञान जैसे विषय से उनका दूर का भी वास्ता न था। उन्होंने ज़ोर, तर्क देकर मुझे कला-संकाय में जाने को कहा क्योंकि उस स्थिति में हिन्दी-संस्कृत के विषयों को वे मुझे अच्छी तरह से पढ़ा सकते थे। आज सोचता हूं कि यदि विज्ञान संकाय में प्रवेश ले लिया होता तो मैं एक दूसरे ही रसहीन संसार में विचरण कर रहा होता और साहित्य, कला के अनूठे, कालजयी, यश-बहुल तथा रस-सिक्त संसार से एकात्म होकर आत्म-विस्तार की अनमोल सुखानुभूति से वंचित रह जाता। इसे मैं दादा जी का पुण्य-प्रताप ही मानूंगा कि उन्होंने मुझ में हिन्दी के प्रति प्रेम को बढ़ाया और यह उनकी ही दूरदृष्टि का परिणाम है कि मैं एम० ए० तक पढ़ पाया, अन्यथा मैट्रिक कर लेने के बाद पिता जी मुझे नौकरी पर लगवाने के पक्ष में थे।

1960 में मैंने कश्मीर विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम. ए. किया। इन्हीं दिनों 'साहित्य परिषद्' या 'हिन्दी सेमिनार' जैसे एक मंच का निर्माण किया गया था जिसमें हर शनिवार को 'गोष्ठी' होती थी। इस गोष्ठी में छात्र-छात्राओं की स्वरचित कविताओं, गज़लों, कहानियों, शोधपरक निबन्धों का वाचन होता। समीक्षाएं होतीं और जमकर होतीं। एक वर्ष तक मैं इस हिन्दी-सेमिनार का छात्र-सचिव रहा और संभवतः गोष्ठियों का सचालन करते-करते, गुरुजनों की समीक्षाएं तथा छात्र लेखकों की रचनाएं सुनते-सुनते मेरे भीतर का छिपा लेखक इतना प्रभावित और विलोड़ित हुआ कि मैंने नियमित रूप से लिखने का अभ्यास करना प्रारम्भ कर दिया। कश्मीर जैसे अहिन्दी प्रांत में हिन्दी रचना का छपना-छपाना सरल कार्य न था। प्रांत से 'योजना' नाम की एकमात्र सरकारी पत्रिका निकलती थी और उस पर वरिष्ठ लेखकों का दबाव अधिक था। हम नये लेखकों को भला कौन गांठता? ......मुझे याद है मेरी पहली रचना 'समाज और हम, 1960 में 'युवक' (आगरा) में छपी थी मेरे फोटो के साथ। रचना छपवाने के लिए मेरे श्रद्धेय गुरु डॉ० शशिभूषण

सिहल ने मेरी मदद की। गुरु जी के सिफारिशी पत्र के साथ मैंने उक्त रचना संपादक को भेजी थी। यकीन मानिए जब डाक से पत्रिका मेरे पास आई और मैंने अपनी रचना सचित्र देखी तो मैं इतना प्रसन्न हुआ, कि मानो कुल-जहां की खुदाई मिल गई हो। पूरे सात दिन तक मेरी प्रसन्नता का ज्वर नहीं टूटा। इन सात दिनों के दौरान पत्रिका मेरे बगल में ही रही। उठते-बैठते, घूमते-फिरते, खाते-पीते, हर बार पलट-पलटकर अपनी रचना को देख लेता, मित्रों को दिखाता और मन ही मन सुखामृत के घूंट पीता रहता।

रचना छप तो गई। वाह-वाही भी मिली किन्तु गुरुदेव डॉ० हरिहर प्रसाद गुप्त की मंशा कुछ और ही थी। मुझ में वे संभवत: उन तमाम संभावनाओं को देख चुके थे जो आगे चलकर मुझे साहित्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठापित करतीं। उनका आग्रह था कि मैं शुद्ध साहित्यिक विषयों, जैसे सूर, तुलसी, नई कविता, छायावाद, रस-निष्पत्ति, साहित्य और समाज आदि विषयों का अध्ययन तो कर लूं, मगर इन पर लिखने की ज़िद न पकड़ूं। इन विषयों के अधिकारी लेखक हिन्दी जगत् में बहुत हैं और इन विषयों के माध्यम से आगे बढ़ने की संभावना भी उतनी नहीं है, जितनी कश्मीर सम्बन्धी विविध विषयों को आधार बनाने में है। इसमें उन्हें कश्मीर की सांस्कृतिक-साहित्यिक धरोहर को हिन्दी जगत् तक पहुंचाने की आवश्यकता नज़र आ रही थी और वे साथ ही सम्पर्क भाषा हिन्दी के माध्यम से देश की दो संस्कृतियों को मिलाने की बात सोच रहे थे। मेरे लिए उन्होंने साहित्य-साधना का नूतन मार्ग खोल दिया। मेहनत करके मैंने 'कश्मीर की झीलें' शीर्षक से एक सचित्र लेख 'सरिता' में प्रकाशनार्थ भेजा। ......दो-तीन महीनों के बाद रचना छप गई नयनाभिराम गेट-अप के साथ। साठ रुपये परिश्रमिक भी मिले। गुरु जी ने ठीक ही कहा था कश्मीर सम्बन्धी विषयों पर लिखने की बहुत जरूरत और गुंजाइश है। उन्हीं दिनों 'कश्मीर के प्रसिद्ध खंडहर', 'कश्मीरी संगीत', 'कश्मीरी कहावतें और पहेलियां' आदि मैंने और लेख भी लिखे।

जब कश्मीर की सुरम्य घाटी को मैंने नवम्बर 1963 में छोड़ा था तो नहीं जानता था कि मातृभूमि को सदा-सदा के लिए छोड़ना पड़ेगा। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से फेलोशिप मिली और पी० एच० डी० करने के लिए कुरुक्षेत्र आया। इस बीच हमारे प्रोफेसर डॉ० शशीभूषण सिंहल कश्मीर से कुरुक्षेत्र विश्व-विद्यालय में चले आए थे। वे मेरे शोध-कार्य के निर्देशक नियुक्त हुए। शोध का विषय था—'कश्मीरी तथा हिन्दी कहावतों का तुलनात्मक अध्ययन।' अपने मां-बाप की छत्रछाया, भाई-बहनों का प्यार तथा बन्धु-बान्धवों का सान्निध्य छोड़ कर मैं अनुभवों के विस्तृत आकाश तले अपनी मंज़िल स्वयं तलाश करने के चल पड़ा था। घर और अपने परिवेश की सीमित-सी दुनिया को अलविदा

रह कर मैंने एक नए परिवेश में प्रवेश किया। मुझे अच्छी तरह याद है कि जब मैं घर से चला था तो पास पचास रुपए थे। दादा जी ने चुपचाप अलग से दस का नोट मेरी जेब में डाल बालों पर हाथ फेरते हुए कहा था—हम से दूर जा रहे हो। एक बात का हमेशा ध्यान रखना बेटा, परदेश में हम लोग तुम्हारे साथ तो होंगे नहीं पर तुम्हारी मेहनत लगन और मिलनसारिता हरदम तुम्हारा साथ देगी। औरों के सुख में सुखी और उनके दु:ख में दु:खी होना सीखना, सच्चा मानव धर्म यही है।

यहां पर इस बात का उल्लेख करना अनुचित न होगा कि एक समय में कश्मीर में हिन्दी के प्रचार-प्रसार तथा हिन्दी-लेखन के प्रति लोगों में बड़ा उत्साह और आदर-भाव था। क्रालखुड़ (हब्बाकदल) में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का कार्यालय हुआ करता था और प्रात: हर इतवार की शाम को वहां हिन्दी से प्रेम रखने वाले उत्साही युवकों एवं वरिष्ठ लेखकों का मजमा जुड़ जाता था। बहसें होतीं, कवि-सम्मेलन आयोजित होते, साहित्यिक चर्चाएं होतीं, पुस्तकों के विमोचन होते, कहानियां पढ़ी जातीं आदि-आदि। यह बात इस शती के पांचवें-छठे दशक की है। मैं कोई 15 वर्ष का रहा हूंगा। इन गोष्ठियों में सम्मिलित तो हो जाता किन्तु पीछे वाली पंक्ति में बैठ जाता। उस वक्त के कुछ बड़े नामों में सर्व श्री प्रो० काशीनाथ धर, प्रो० लक्ष्मीनारायण सपरू, श्रीकंठ तोषखानी, प्रो० पृथ्वीनाथ पुष्प, मोतीलाल चातक, द्वारिका नाथ गिगू, रतन लाल शांत, प्रेमनाथ प्रेमी, शशि शेखर तोषखानी, प्रो० नीलकंठ गुर्टू, हरिकृष्ण कौल, प्रो० चमन लाल सपरू, जानकी नाथ कौल 'कमल' आदि याद आ रहे हैं। कालान्तर में समय ने करवट ली और इसी के साथ कश्मीर में हिन्दी के ये प्रहरी और प्रेमी इधर-उधर बिखर गये।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में दो वर्ष की अवधि बिताने के साथ ही नौकरी के लिए तलाश शुरू होने लगी और मैंने इधर-उधर प्रार्थना पत्र भेजे। दो जगह मेरा चयन हुआ। दिल्ली के एक सान्ध्यकालीन कालेज में अस्थायी तौर पर तथा राजस्थान लोकसेवा आयोग, अजमेर द्वारा राजस्थान कालेज शिक्षा सेवा के लिए पक्के तौर पर। निर्णय मुझे लेना था। राजस्थान सरकार की नौकरी ही मेरी नियति बनी क्योंकि अस्थायी नौकरी स्वीकार करने का जोखिम उठाना मेरे बूते से बाहर था। जुलाई 1966 से मैं राजस्थान के विभिन्न सरकारी कालेजों में अध्यापनरत हो गया। राजकीय कालेज भीलवाड़ा में मेरी प्रथम नियुक्ति हुई। एक वर्ष तक वहां पर रह लेने के बाद, लगभग दस वर्षों तक राजकीय कालेज, नाथद्वारा (उदयपुर) में रहा। 1978 से राजकीय स्नातकोत्तर कला महाविद्यालय, अलवर में स्थानान्तरित होकर आया। इस बीच 1975-76 में एक वर्ष के लिए भारत सरकार के पटियाला स्थित उत्तर

क्षेत्रीय भाषा-केन्द्र में कश्मीरी पढ़ाने के लिए मेरी प्रतिनियुक्ति हुई जहां पर कश्मीरी भाषा वैज्ञानिक अध्ययन, उसके व्याकरण और उसकी पाठ-सामग्री का निकट से अनुशीलन करने का मुझे अवसर मिला। सन्त कवयित्री ललद्यद पर मैंने यहीं एक पुस्तक तैयार की जो भुवन वाणी ट्रस्ट, लखनऊ से प्रकाशित हुई। इस पुस्तक की सुन्दर प्रस्तावना प्रसिद्ध हिन्दी विद्वान् और पत्रकार श्री बनारसीदास चतुर्वेदी जी ने लिखी है।

प्रभु श्रीनाथ जी की प्रसिद्ध नगरी नाथद्वारा में बिताए दस वर्ष मेरे जीवन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और दिशा-सूचक वर्ष रहे हैं। यही वे वर्ष हैं जिन्होंने मेरे भीतर के लेखक को एक सुनिश्चित रूप देना प्रारम्भ किया और मेरे साहित्यिक-भविष्य की नींव पड़ गई। ये तमाम वर्ष मेरे लिए कठोर परिश्रम के वर्ष थे। अपनी जन्म-भूमि से सैंकड़ों मील दूर डल झील और चिनारों की शीतल और पुलकन-भरी छाया से विलग, नर्म-नर्म बर्फ की छुअन से सदा के लिए दूर होकर मैं वीर-वसुन्धरा राजस्थान की प्रचंड गर्मी और लू से उलझता हुआ परदेस में बसने, अपने लिए एक जगह बनाने तथा अपने भविष्य को संवारने की चिंता में लगा था। अपनों से दूरी ने मन में जो रिक्तता और टीस पैदा की थी, वह मेरे लिए वरदान सिद्ध हुई। मैंने निश्चय किया कि मेरा प्रवास आजीविका जुटाने का प्रयास-मात्र नहीं होना चाहिए जिससे मेरे भीतर की वियोगजन्य पीड़ा की क्षतिपूर्ति हो। सच पूछा जाए तो मातृभूमि से दूरी और तज्जन्य रिक्तता का भाव ही मेरी समस्त साहित्य-साधना की मूल-प्रेरणा है। 1983 में पटना के सचिवालय सभागार में बिहार राजभाषा के रैणा मेरे अभिनंदन-समारोह में उस समय के बिहार के मुख्य-सचिव ने कही थी। "अगर ये कश्मीर में होते तो इतना महत्त्वपूर्ण और उपयोगी कार्य न कर पाते। दरअसल अपने वतन से दूरी ने ही उन्हें इतना ठोस कार्य करने की प्रेरणा दी है।"

इस बीच राजस्थान जैसे विशुद्ध हिन्दी प्रांत में कार्य करने से मेरे हिन्दी के व्यावहारिक ज्ञान की सीमाएं विस्तृत हो चुकी थीं। मैंने हिन्दी के रोजमर्रा के मुहावरे को आत्मसात् कर लिया था, भाषा पर मेरी पकड़ मजबूत होती जा रही थी। हिन्दी भाषा और साहित्य के जानकारों, विद्वानों से दिनों दिन मेरा सम्पर्क बढ़ता जा रहा था। सभा-गोष्ठियों में मेरी भागीदारी बढ़ती जा रही थी...। कश्मीर छोड़कर राजस्थान को अपना कार्यक्षेत्र बनाने का एक जबरदस्त फ़ायदा मुझे यह हुआ कि मेरी भाषा और शैली में बड़ा परिष्कार हुआ। मेरी पहली पुस्तकाकार रचना 'कश्मीरी भाषा और साहित्य' 1972 में छपी। इसे मैंने लगभग दो वर्षों की मेहनत के बाद नाथद्वारा में तैयार किया था। सुप्रसिद्ध हिन्दी संस्कृत विद्वान् एवं सांसद (राजतरंगिनी के विख्यात भाष्यकार) डा० रघुनाथ

सिंह ने लगभग अठारह वर्ष पूर्व राजस्थान में रहकर कश्मीरी साहित्य-संस्कृति पर मेरे निष्ठापूर्ण लेखन को देखकर सुखद-आश्चर्य प्रकट किया था। हाथ से लिखे पत्र में उन्होंने मुझे लिखा था—"...आप साहित्य की जो सेवा कर रहे हैं उससे कश्मीर और भारत उऋण नहीं हो सकते। विचित्र विपर्यय है—कहां कश्मीर का तुषार-मंडित देश और कहां राजस्थान की मरुभूमि। किन्तु दोनों हैं उज्ज्वल वर्ण—राजस्थान की ऊष्मा ने वीरों को उत्पन्न किया है और हिमालय भूमि में आसीन कश्मीर ने दार्शनिकों एव महाकाव्यकारों को।......" नाथद्वारा प्रकाश के दौरान ही मैंने कश्मीर की लोकप्रिय रामायण 'रामावतारचरित' का सानुवाद लिप्यंतरण किया। इस कार्य को पूरा करने में मुझे लगभग तीन वर्ष लगे। भुवन वाणी ट्रस्ट, लखनऊ से प्रकाशित इस सेतु-ग्रन्थ की सुन्दर प्रस्तावना डॉ॰ कर्ण सिंह जी ने लिखी है।

मेरा जन्म चूंकि एक परम्परावादी हिन्दू ब्राह्मण परिवार में हुआ, इसलिए ईश्वर के अस्तित्व में मेरा अविश्वास कभी नहीं रहा। पर मेरे मन ने यह कभी स्वीकार नहीं किया कि ईश्वर श्रम से बढ़ कर है। श्रम के प्रति मेरे अटूट विश्वास ने ही मुझे भाग्यवादी नहीं बनाया है। हां, जब देखता हूं कि इस संसार में ऐसे भी अनेक लोग हैं जो श्रम के प्रति उदासीन होते हुए भी सफलताएं अर्जित कर रहे हैं तो मन को बड़ी तकलीफ होती है। तब श्रम पर से मेरी आस्था हिल जाती है और मैं न चाहते हुए भी प्रारब्ध, भाग्य, नियति, कर्मों का फल, पूर्वजन्म के संस्कार आदि जैसी बातों पर विश्वास करने लग जाता हूं। इसे आप मेरे मन की कमज़ोरी कह सकते हैं, मगर सच्चाई यही है। कश्मीरी भाषा और साहित्य, कश्मीरी रामायण, 'रामावतारचरित', कहानियां, केन्द्रीय साहित्य अकादमी के अंग्रेज़ी प्रकाशनों 'ललद्यद' और 'हब्बाखातून' और महजूर की कविताओं को हिन्दी में रूपान्तरित करते या फिर भारतीय ज्ञानपीठ के लिए कश्मीरी का प्रतिनिधि संकलन तैयार करते समय, मैंने सच मुच अपनी आंखों का रक्त पृष्ठों पर उतारा है। मन-मस्तिष्क के एक-एक तन्तु को कठोर परिश्रम की यातना से गुज़ारा है, तब जाकर कहीं सृजन की पीड़ा झेलते ये पुस्तकें सामने आ सकी हैं। 'ललद्यद' के अंग्रेज़ी से हिन्दी में किये गए अनुवाद को मैं अपनी मेहनत का अनूठा प्रसाद मानता हूं। जिसने भी उसे पढ़ा, विभोर हो गया। एक समीक्षक के कथनानुसार तो यह पुस्तक इतिहासविदों, साधकों एवं साहित्यकारों के लिए समान रूप से उपयोगी है।" ऐसा ही कुछ परम आदरणीय श्री विष्णु प्रभाकर जी ने मेरी अनुवादित/संपादित पुस्तक 'कश्मीर की श्रेष्ठ कहानियां' के बारे में लिखा है।

मेरी रचना-यात्रा के साक्षियों में मेरे गुरुजन, सुरुचि सम्पन्न मित्र तथा वे सब हितैषी शामिल हैं जिन्होंने सच्चे मन से मेरी साहित्यिक उपलब्धियों पर

प्रसन्नता व्यक्त की है। गुरुदेव डॉ० हरिहर प्रसाद गुप्त ने अपने एक पत्र में मुझे इलाहाबाद से लिखा था—"तुम्हारी उपलब्धियों पर मुझे गर्व है। शिष्य द्वारा गुरु को परास्त होते देख अपूर्व आनन्द की प्राप्ति हो रही है—आगे बढ़ो और यशस्वी बनो...।" मेरी जीवन-संगिनी हंसा का भी इस यात्रा में कम योगदान नहीं रहा है। हमारी शादी कश्मीर में हुई। एक कुलीन ब्राह्मण परिवार में जन्मी मेरी धर्मपत्नी के दादा जी श्री हरभट्ट शास्त्री अपने समय के जाने माने कर्मकाण्डी, शैवाचार्य तथा संस्कृत के पंडित थे। अपने दादा जी से प्राप्त संस्कारों को अपने व्यक्तित्व में साकार करते हुए मेरी श्रीमती ने मेरे लेखन को मन ही मन आदर की दृष्टि से देखा है। स्वयं साहित्य की प्राध्यापिका होने की वजह से इस कार्य को गुणवत्ता और महत्ता का उन्हें पूरा ध्यान है। कई-कई बार प्रैस में जाने से पहले मेरी रचनाएं पढ़ी हैं और बहुमूल्य सुझाव दिए हैं। हां, मेरी पुस्तकों/फाइलों/कागजों की अस्तव्यस्तता से वे तंग अवश्य हुई हैं और साहित्य के मामले में हमारे बीच वैचारिक टकराहट का कारण भी यही रहा है। वे पुस्तक को करीने से सजाने के पक्ष में रही हैं और मैं उसे 'घोटने' के पक्ष में। अध-खुली किताबें, बेतरतीबी से बिखरे कागज़, टेबिल के दाएं-बाएं किताबों के छोटे-मोटे ढेर और उनके बीच में मैं। सच, मुझे यह सब बहुत अच्छा लगता है। कोई कागज़ या पत्र कहीं इधर-उधर चला जाए, फाइल कहीं दब जाए, किताब रैक में मिले नहीं—मुझे उसे ढूंढ निकालने में बड़ा आनन्द आता है।

मेरा साहित्यिक अवदान मुख्य रूप से एक अनुवादक के रूप में अधिक है। इसीलिए कई बार विज्ञ साथियों ने मेरी साहित्य-सेवा को 'सेतुकरण' की संज्ञा दी है। 1990 में उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान ने लखनऊ में मुझे 'सौहार्द-सम्मान से अलंकृत करते हुए प्रशस्ति पत्र में कुछ ऐसा ही कहा था—"डॉ० शिबन कृष्ण रैणा कश्मीर और हिन्दी भाषियों के बीच एक लब्ध-प्रतिष्ठि साहित्य प्रेमी, अनुवादक और लेखक के रूप में जाने जाते हैं।...हिन्दी भाषियों को कश्मीरी साहित्य की ऊंचाइयों से परिचित कराने के लिए आपने असाधारण मेहनत की और उसकी अनेक रचनाएँ आज उन्हीं की सक्रियता से हिन्दी में उपलब्ध हैं। उनकी उल्लेखनीय विशिष्ट और दीर्घकालीन हिन्दी सेवा और कश्मीरी जैसी आत्मीय भारतीय भाषा को राष्ट्रभाषियों के बीच पहुंचाने में अतुलनीय योगदान के लिए उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान उन्हें सौहार्द-सम्मान से सम्मानित करते हुए दस हज़ार रुपये की धन राशि भेंट करता है।" यही बात 1983 में ताम्रपत्र प्रदान करते हुए बिहार सरकार के राजभाषा विभाग ने मेरे साहित्यिक अवदान के बारे में भी कही थी।

मैंने अनुवाद को हमेशा मूल के बराबर का ही प्रयास माना है। यह मौलिक सृजन से भी बढ़कर कष्ट साध्य कार्य है। अपनी पुस्तक

'कश्मीरी की प्रतिनिधि कहानियां' में 'पूर्व-निवेदन' के अन्तर्गत मैंने इसी बात को रेखांकित करते हुए लिखा है—"अनुवाद मौलिक सृजन से भी बढ़कर एक दुष्कर कार्य है। यह काम इतना जटिल, श्रमसाध्य और विरस है कि इससे होने वाली कोफ़्त का अन्दाज़ वही लगा सकते हैं जिन्होंने अनुवाद का कार्य किया हो।...अनुवाद तो, एक तरह से, योगी का परकाया में प्रवेश है। वह पुनर्जन्म है, रचना का पुर्नसृजन । वह द्वितीय श्रेणी का लेखन नहीं, मूल के बराबर का ही प्रयास है। सुन्दर, प्रभावशाली तथा पठनीय अनुवाद के लिए यह आवश्यक है कि अनुवादक भाषा-प्रवाह को कायम रखने के लिए, स्थानीय बिम्बों तथा अन्य रूढ़-प्रयोगों को बोधगम्य बनाने और वर्ण्य-विषय को अधिक हृदय-ग्राही बनाने के लिए मूल रचना में आटे में नमक समान फेर-बदल करे ऐसा वह लम्बे-लम्बे वाक्यों को तोड़कर, उनमें संगति बिठाने के लिए अपनी ओर से दो-एक शब्द जोड़कर तथा अर्थ के बदले आशय पर अधिक ध्यान देकर, कर सकता है। इस संकलन की कहानियों का अनुवाद करते समय मैंने यही किया है। ऐसा न करता तो अनुवाद 'अनुवाद' न होकर 'सरलार्थ' बन जाता। मैंने प्रयत्न किया है कि प्रत्येक अनुवादित रचना अपने आप में एक 'रचना' का दर्जा प्राप्त करे...।"

मित्रों का कई बार आग्रह रहा कि मुझे अनुवाद के अलावा कुछ मौलिक भी लिखना चाहिए। यह बात शायद वे इसलिए कह रहे थे कि वे देख लें कि मेरी कारयित्री प्रतिभा में कितनी ऊर्जा और दम है। यों, कश्मीरी भाषा, साहित्य, कला, संस्कृति आदि पर मैंने बीसियों शोधपरक/समीक्षात्मक लेख लिखे होंगे जो समय-समय पर देश की विभिन्न प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं, यथा-'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'सन्मार्ग' (कलकत्ता), 'जनसत्ता', 'शीराज़ा', 'मधुमती', 'सप्तसिन्धु', 'त्रैमासिक भाषा', 'ज्योत्स्ना', 'कादम्बिनी', 'हिन्दुस्तानी', 'जागरण', 'परिषद् पत्रिका' (पटना), 'राजभाषा', 'आजकल' आदि में छपे हैं। पर शायद यह मौलिक लेखन न था। मित्र चाहते थ कि मैं भी कहानियां/कविताएं/नाटक लिखूं और मात्र 'अनुवादक' बनकर न रह जाऊं। मैंने चुनौती स्वीकार कर ली। भीतर मन में छटपटाहट तो थी ही, रचना की भाषा से भी मैंने साक्षात्कार कर लिया था और फिर साहित्य-शास्त्र का अध्येता/प्राध्यापक होने के कारण रचना की सृजन-प्रक्रिया के मूल एवं आवश्यक तत्त्वों की जानकारी भी मुझे थी। मैंने कहानी लिखने का प्रयास किया। 'शतरंज का खेल', 'मोहपाश', 'अन्तराल', 'रिश्ते' आदि मेरी ऐसी स्वरचित कहानियां हैं जिन्होंने मुझे और मेरे मित्रों को आश्वस्त कर दिया कि मौलिक सृजन करने की मेरी सम्भावनाएं कम नहीं हैं। मेरे नाटक 'हब्बाखातून', 'प्रेम और प्रतिशोध' "खानखानां रहीम' आदि भी बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुए। 'हब्बाखातून' लिखने और उसके प्रसारित होने के बाद खुद मुझे लगा कि मैं अच्छे सवाद लिख सकता हूं। जिन्होंने भी इस नाटक को सुना, मुझे बधाई दी।

साहित्य सेवाओं के लिए मुझे केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय राजभाषा विभाग (पटना), उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, सिन्ध राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, श्रीडूंगरगढ़ (बीकानेर) आदि संस्थाओं ने ताम्रपत्रों, प्रशस्तिपत्रों तथा अभिनन्दन पत्रों आदि से समय-समय पर सम्मानित किया है। दो-एक संस्थाओं ने 'साहित्यश्री' तथा 'साहित्य-वागीश' जैसी मानद उपाधियां भी प्रदान की हैं। सम्मान प्राप्ति के इन हर्ष-दायक अवसरों पर मुझ में हमेशा प्रसन्नता मिश्रित सन्तोष का भाव व्याप्त रहा है। मैं सम्मान/पुरस्कार को लेखन के लिए आगे बढ़ने की प्रेरणा मानता हूं। वह जड़ता को मिटाता है, मन में नव्य कर्मोत्साह का संचार करता है। यों सम्मान या पुरस्कार लेखक के लिए साध्य नहीं होते और होने भी नहीं चाहिएं।

कई साहित्यिक गोष्ठियों एवं सम्मेलनों के सिलसिले में मुझे भारत भ्रमण का सुअवसर मिला। इन यात्राओं से मेरा दृष्टिकोण व्यापक और चिन्तन पुष्ट हुआ है। इसी के साथ अपने देश की वैविध्यपूर्ण संस्कृति और देशवासियों के स्वभाव को भी निकट से देखने का अवसर मिला है।

आयु के बढ़ने के साथ-साथ घर-परिवार तथा अन्दर-बाहर की ज़िम्मेदारियां भी बढ़ती जाती हैं और लेखन के लिए समय निकाल पाना मुश्किल हो जाता है। फिर भी कार्यरत बना हुआ हूं। दो कार्य मेरे सामने हैं—कश्मीरी सन्त कवि शेखनूरुद्दीन वली के श्रुकों (पदों) का सानुवाद देवनागरी में लिप्यंतरण तथा 'कश्मीरी कहावत-मुहावरा कोश' का प्रकाशन। बस, मेरे सन्नद्ध हो जाने की देर है। इतनी सारी व्यस्ताओं के बीच डल में शिकारा चलाते सुव्हाना के हुक्के की गुड़ गुड़ाहट और लोक गीत की धुन, चार चिनार पर परिवार जनों के साथ बिताई एक सुखद गर्म दोपहर, भाप उठाती कश्मीरी भात से भरी थाली में चटख सुर्ख मिर्चदार नदरू और कड़म का साग, बादाम वारी में जाते सवारियों से लदे तांगों की दौड़ प्रतियोगिता। शंकराचार्य के मन्दिर में टिमटिमाती नीली रोशनी...। चाय का प्याला थामते हुए सहसा पत्नी से कहता हूं..."सुनो...यह दिसम्बर है...और कश्मीर में ज़रूर बर्फ गिर रही होगी..."

———

बहिरंग

डॉ० जीवन सिंह

पहाड़ों-नदियों, वनांचलों, समतल मैदानों और मरुभूमि की विविधतामयी प्रकृति से सम्पन्न हमारा देश, न जाने कब से एक समृद्ध मानव-संस्कृति की रचना करता चला आ रहा है। कौन सा सुयोग, संकल्प या निर्णय किसको कब कहां ले जाएगा, यह मनुष्य के लिए गणित की तरह निश्चित और निर्धारित नहीं। केसर की क्यारियों और डलझील की महामौनमयी शान्ति को छोड़कर रोटी की खोज में डॉ० शिबनकृष्ण रैणा मरुभूमि के सफल नागरिक बन जायेंगे यह पहले से किसे पता था ? इसके पीछे जो प्रेरणा या जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं को जुटाने का जो भी दबाव रहा हो, सच्चा नागरिक वही है जो प्रतिकूल परिस्थितियों का भी न केवल अनुकूलन कर ले बरन् उसके भीतर अपने विश्वास और आस्था का एक लम्बा-चौड़ा विस्तृत राजमार्ग न सही एक छोटी सी पगडंडी ही खोज ले। जब अन्धेरा घना होता है तो एक मोमबत्ती का प्रकाश भी जीवन का दर्शन बन जाता है। डॉ० रैणा के भीतर मुझे इस तरह की एक पगडंडी और प्रकाश का संकल्प स्वरूप ग्रहण करता और विकसित होता हुआ दिखाई देता रहा है।

पहली बार डॉ० रैणा से अलवर-जयपुर की यात्रा करते हुए बस में मुलाकात हुई। नाम तो सुन रखा था। राजस्थान शिक्षा सेवा में वे भी हिन्दी के प्राध्यापक और मैं भी। बस यही एक सामान्य-सूत्र था, जो हमें तात्कालिक रूप से जोड़ने वाला था। जब परिचय हुआ और यात्रा के प्रवाह में बातों की शृंखला बनने लगी तो संस्कृत-साहित्य की कश्मीरी परम्परा का एक पूरा परिदृश्य, मरु-अंचल के उन खेजड़ों के बीच साकार होने लगा, जो भले ही चिनार और देवदारु जैसी हरीतिमा और डील-डौल न रखते हों, लेकिन जीवन की इस प्रवाहिनी अन्तः सलिला का प्रमाण अवश्य रखते थे। मुझे भीतर ही भीतर महाकवि रहीम का यह दोहा याद आ रहा था—

कहा करौं बैकुण्ठ लै, कल्पवृच्छ की छांह।
रहिमन ढाक सुहावनो, जो गल प्रीतम बांह।

मेरा तो खेजड़ा और बबूल ही अच्छा है और चिनार-देवदारु भी पराए कहां हैं ? वे मरुभूमि में आ गए हैं। वे भी अपने हैं। एक विस्तार मिलता है— इस तरह के मिलन से। यह शायद 1982-83 का वर्ष था। डॉ० रैणा को अलवर में बसे हुए चार-पांच बर्ष ही हुए हैं और यह मेरी अध्ययन-भूमि रही है। उनकी बातचीत से लगा कि वे इस नगर को पसन्द करते हैं। यह राजस्थान का दूर्वांचल है। पूरी तरह मरुभूमि नहीं। कई बोलियों का सन्धिकेन्द्र—एक ओर ब्रज तो दूसरी ओर ढूंढाड़ी, तीसरी ओर मेवाती तो चौथी दिशा में हरियाणवी प्रभाव वाली राठी। कई सरिताओं स्रोतों की संगम स्थली। डॉ० रैणा, यहां मेवाड़ की ठसक, ब्रज की लचक एवं माधुर्य से पूर्ण श्री नाथ जी की नगरी नाथद्वारा में लगभग दस वर्ष बिता कर आए हैं। इसकी पृष्ठभूमि में उनके पास स्मृतियों की एक शृंखला है। अपने जीवन के संघर्ष, स्थापना और रससिक्तता के ऐसे पन्ने हैं, जिन्हें बतलाते हुए वे आज भी ऐसे मग्न हो जाते हैं, जैसे कोई जेठ महीने का पथिक अचानक किसी ऐसे सरोवर के किनारे जा पहुंचा हो, जिसके तट पर अमराइयां हों और उनमें कोकिल बोल रहा हो। यहीं से उनकी साहित्य-यात्रा ने गति पकड़ी और वे आगे चलते गए।

हिन्दी-अंचल में 'शिव' और 'कृष्ण' तो प्रचलित हैं 'शिबन' नहीं। 'शिबन', शिव का ही कश्मीरी रूप लगता है। भारतीयता के किरीट, कश्मीर की राजधानी श्रीनगर के एक मुहल्ले में श्री रैणा का जन्म एक निम्न मध्यवर्गीय पंडित परिवार में हुआ। एक ठेठ दुनियादार आदमी होने के बावजूद अपनी एक अलग पहचान बनाने वाले डॉ० शिबन कृष्ण रैणा अपनी बातों के लहजे और अदाकारी से मोहित किए बिना नहीं रहते। वे मित्रों के मित्र हैं—सुख-दु:ख के पूरे संगी-साथी। जो उनका हो गया, फिर वह उनका अपना है। उससे दिन में एक बार मिले बगैर चैन नहीं लेता। दुनियादारी में पूरे चौकस डॉ० रैणा अपने आसपास जो होता—घटता है। उसकी पूरी खोज-खबर रखते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने एक निबन्ध में लिखा है कि "बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता।" परिचय की यह कला डॉ० रैणा को खूब आती है। परिचय प्रेम की प्राथमिक पाठशाला है। जीवन के इस मनोवैज्ञानिक सूत्र को डॉ० रैणा ने खूब जाना-समझा है। कला और राजनीति के कई धुरंधरों से उनका निकट का परिचय है। 'कश्मीरी रामावतारचरित' (कश्मीरी रामायण) के रचयिता प्रकाश राम कुर्यग्रामी के भावों-विचारों को पढ़ते हुए मुझे जहां भारतीय जीवन की एकसूत्रता के प्रमाण मिले, वहीं डॉ० रैणा के व्यक्तित्व को निर्मित करने वाले संकल्प के प्रेरणा-बीज भी बिखरे हुए मिले उसमें एक पद्य है—

हैछिथ बूज़िथ वुछिथ लागुन पज्या ओंन।
फ़लिस छुय ह्योल ह्योलिस छुसं सो पुनन गोन॥
जु दोह सोंतुन्य गनीमत छय जवोनी।
ति लोनख यि ववरव ए यारि जानी॥

अर्थात् "सीखकर, सुनकर तथा देखकर भी अन्धा क्यों बनता है ? दाने से बाली, बाली से पूली और पूली से गठरी बनती है। जवानी के इन दो बसन्ती दिनों को गनीमत जान। ए जाने यार ! (प्यारे दोस्त) यहां जो बोओगे वही काटोगे।"

कहना न होगा कि 'रामावतारचरित' के कवि का यहां जो भी अभिप्राय रहा हो, डॉ० रैणा ने शायद इसी अनुभव से अपने जीवन में 'दाने से बाली, बाली से पूली और पूली से गठरी' बनाई है और जवानी के दो बसन्ती दिनों को गनीमत मानते हुए वे इस बात के प्रति विशेष रूप से चौकस रहे हैं कि यहां जैसा बोयेंगे, वैसा ही काटेंगे। इस मामले में वे बहुत सौभाग्यशाली रहे हैं कि कश्मीर से हिन्दी के व्यावहारिक तथा बोलचाल के मुहावरे को नजदीक से न केवल जान सके वरन् प्रयोग में लाने लगे। उन्होंने कश्मीरी साहित्य का हिन्दी में अनुवाद का महत्त्वपूर्ण कार्य कर भारत की दो महत्त्वपूर्ण जातीयताओं के बीच सम्बन्ध सूत्र स्थापित किया है। दरअसल डॉ० रैणा का व्यक्तित्व भाषिक दृष्टि से बहुआयामी व्यक्तित्व है। वे मूलतः कश्मीरी हैं। कश्मीरी-संस्कृति अपने मूल-स्वरूप में अत्यन्त संश्लिष्ट है—संस्कृत, फ़ारसी, अरबी और स्थानीय बोली/बोलियों का एक मिलाजुला भाषिक रूप। डॉ० रैणा ने दैनिक व्यवहार में हिन्दी का उपयोग भी निरन्तर करते रहे हैं। यह उनके व्यक्तित्व का अन्तर्राष्ट्रीय आयाम है।

यह स्पष्ट है कि भारतीय भाषाओं में लिखे गए साहित्य को हिन्दी में रूपान्तरित करने वाले अनुवादक वर्ग की, नई राष्ट्रीय अस्मिता को निर्मित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि हमारा देश विविधताओं का देश है और उन विविधताओं के भीतर एकता का एक सुदृढ़ सूत्र भी है, जो हजारों वर्षों से अलिखित और वाचिक सांस्कृतिक सूत्र में पूरे देश को पिरोए हुए हैं। यहां पर हिन्दी के प्रसिद्ध मार्क्सवादी चिन्तक और आलोचक डॉ० राम विलास शर्मा के विचार उद्धृत करना प्रासंगिक होगा। उन्होंने एक जगह लिखा है कि "संसार का कोई भी देश बहुजातीय राष्ट्र की हैसियत से, इतिहास को ध्यान में रखें तो, भारत का मुकाबला नहीं कर सकता। यहां राष्ट्रीयता एक जाति द्वारा दूसरी जातियों पर राजनीतिक प्रभुत्व कायम करके स्थापित नहीं हुई। वह मुख्यतः संस्कृति और इतिहास की देन है। इस संस्कृति के निर्माण में इस देश के कवियों का सर्वोच्च स्थान है। इस देश की संस्कृति से रामायण और महाभारत को अलग कर दें, तो भारतीय साहित्य की आन्तरिक एकता टूट जाएगी।" कहने की जरूरत नहीं कि डॉ० रैणा ने कश्मीरी भाषा के क्लासिक साहित्य का हिन्दी में अनुवाद कर इसी आन्तरिक एकता को हिन्दी-पाठक के समक्ष उद्घाटित किया है। मैं यहां स्पष्ट रूप से कहना चाहूंगा कि यदि

डॉ० शिबनकृष्ण रैणा के साहित्यानुवाद मेरे सामने न होते तो मुझे यह मालूम ही न पड़ता कि कश्मीरी भाषा-साहित्य की भी लगभग वैसी ही निर्माण एवं विकास प्रक्रिया रही है जैसी हिन्दी साहित्य की। जैसे हिन्दी-साहित्य के निर्माण और विकास में कबीर, सूर, तुलसी, जायसी, रहीम, रसखान आदि का योगदान रहा है, वैसे ही कश्मीरी भाषा और साहित्य के निर्माण एवं विकास में ललद्यद, शेख नूरुद्दीन वली, हब्बाखातून, अरणिमाल, प्रकाश राम कुरिगामी, रसूल मीर, महजूर, दीनानाथ नादिम, अख्तर महीउद्दीन, बन्सी निर्दोष, अमीन कामिल, सूफी गुलाम मुहम्मद, प्रेमनाथ दर, दीपक कौल, अवतार कृष्ण 'रहबर' आदि अनेक साहित्यकारों का योगदान रहा है। देखने की बात यह है कि अपनी जातीय एवं राष्ट्रीय संस्कृति के निर्माण में हिन्दू और मुसलमान दोनों की सांझी भूमिका रही है और यह कार्य दोनों सम्प्रदायों के लोगों ने लगभग एक शताब्दी से किया है।

'रामायण' और 'महाभारत' हमारे ऐसे महान् ग्रन्थ हैं, जो भारतीय जीवन को संस्कृति के स्तर पर एक सूत्र में पिरोते हुए उसकी विराटता दर्शाते हैं। राम-कथा में व्यक्त मूल्य दृष्टि, जीवन-सम्बन्ध और पारिवारिकता ने भारतवर्ष के किसी जनपद और जातीय अंचल को अपने प्रभाव से मुक्त नहीं रखा है और कोई काल ऐसा नहीं रहा है, जब राम-चरित ने भारतीय जीवन को प्रेरित नहीं किया है। इस दृष्टि से डॉ० रैणा द्वारा कश्मीरी भाषा की रामायण—'रामावतारचरित' का अनुवाद कर एक राष्ट्रीय महत्त्व का कार्य किया है। इस कृति को पढ़ते हुए मुझे दो बातें स्पष्ट तौर पर नज़र आईं। पहली बात यह है कि राम-कथा का संस्कृति-स्रोत पूरे भारतीय समाज में समान होते हुए भी स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप है। वह बाहरी स्वरूप में—कथा-रूप में भी—परिवर्तित होता रहा है। दूसरी बात यह है कि इस कृति में भारतीय संस्कृति के जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति के साथ कश्मीरी-जीवन-सम्बन्धों और प्रकृति-सौन्दर्य का जिस तरह कवि ने उपयोग किया है, वह इसे सच्चे अर्थ में 'कश्मीरी रामायण' का दर्जा प्रदान करता है। यह कृति भाषा से तो कश्मीरी है ही, साथ ही परिवेश, प्रकृति, अप्रस्तुत विधान आदि बातों में भी कश्मीरी है।

डॉ० शिबनकृष्ण रैणा के अनुवाद की समय-परिधि बहुत ही व्यापक है। उसके भीतर कश्मीरी की आदि-कवयित्री ललद्यद हैं तो आधुनिक कवियों में महजूर हैं और युवा पीढ़ी के कवि गुलाम अहमद गाशा भी। यहां पर स्वाधीनता की भावनाओं को कविता में उतारने वाले स्वाधीनता आन्दोलन युग के एक प्रतिनिधि कश्मीरी कवि गुलाम अहमद महजूर की श्रेष्ठ कविताओं के अनुवाद का उल्लेख करना भी प्रासंगिक होगा। यह अनुवाद डॉ० रैणा ने 'महजूर की श्रेष्ठ कविताएं' शीर्षक से किया है जिसे 'जे० एण्ड के०

अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज, श्रीनगर' ने 1989 ई० में प्रकाशित किया है। इस कविता-संकलन में महजूर के देश भक्ति, स्वाधीनता-आन्दोलन तथा प्रेम विषयक 32 कविताओं के हिन्दी-अनुवाद हैं। महजूर को कश्मीरी-कविता का भारतेन्दु कहा जा सकता है। भारतेन्दु ने जैसे हिन्दी-कविता को नई चाल में ढाला, वैसे ही महजूर भी कविता में नए जमाने का सन्देश लेकर आए। महजूर अपने प्रभु से सत्य और ज्ञान की मदिरा पिलाने की प्रार्थना करने वाले कवि हैं। वे रूढ़ियों का विरोध करते हुए नयी चेतना का स्वागत इन शब्दों में करते हैं—

आज/बाग के पक्षियों में
कुछ नया ही शोर है
पिंजरे में सोन चिरैया ने
कुछ नया ही राग/छेड़ा है—
चले हैं हम खूब
थके हैं हम खूब
पर कारवां पहुंचा नहीं अभी तक
मंजिल पर है। ('कारवां और मंजिल' कविता से)

महजूर की प्रसिद्ध कविता है 'कृषक-बाला'। यह कश्मीरी कविता में नए सौंदर्य बोध का आरम्भ करने वाली कविता मानी जाती है। इसमें मेहनतकश वर्ग के सौंदर्य का रेखांकन करते हुए जीवन के उस पक्ष की ओर इशारा किया गया है, जो अपने श्रम से पूरे समाज को सुन्दर बनाने का प्रयास करता है। इस रूपसी के सौंदर्य की समानता अभिजात वर्ग की निठल्ली ललनाएं कैसे कर सकती हैं—

कुल वनिताएं क्या करें
बराबरी भला उसकी
परदे में जो सदा हैं रहती
गुलों की रानी वह सुमन परी
कृषक-बाला वह सुन्दरी (कृषक-बाला)

उनका पहला पद्य-गद्यानुवाद 'प्रतिनिधि संकलन : कश्मीरी के नाम से भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन से छपा है, जिसमें कश्मीरी की चुनी हुई गद्य-पद्य रचनाएं संकलित की गई हैं। इस कृति में कश्मीरी साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि पर प्रकाश डालते हुए डॉ० रैणा ने आधुनिक कश्मीरी साहित्य को कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास के स्वरूप का मौलिक विवेचन भी किया है। वह विवेचन आज के माहौल में भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना कि पहले था।

कश्मीरी गद्य साहित्य के अनुवादों में डॉ० रैणा ने कथा-विधा को प्रमुखता दी है। कहानी के अनुवादों में उनकी 'कश्मीरी की श्रेष्ठ कहानियां' प्रमुख रहीं हैं। इन संकलनों के अलावा उन्होंने कश्मीरी उपन्यासकार बंसी निर्दोष के 'अख दौर' उपन्यास का हिन्दी-अनुवाद 'एक दौर' शीर्षक से किया है। इस कथा साहित्य से हमें अपने देश के शीर्ष-स्थान कश्मीर के प्राकृतिक सौंदर्य के साथ साथ उस की जीवन-सुषमा और जीवन-सम्बन्धों के यथार्थ की जानकारी भी होती है, डॉ० रैणा कृत अनुवादों को पढ़ते हुए यह भी अनुभव हुआ कि कश्मीरी जीवन और संस्कृति में भले ही हिन्दू-मुस्लिम जैसी दो पृथक जीवन पद्धतियां रही हों, लेकिन उनकी जिजीविषा का एक ऐसा जीवन सूत्र सशक्त रूप से अनुस्यूत रहा है, जो उन्हें एक रूप प्रदान करता है। जीवन को संवारने और पहले से और अधिक सुन्दर बनाने की प्रक्रिया में मुसलमान ने हिन्दू से सहयोग किया है तथा हिन्दु ने मुसलमान का। कश्मीरी भाषा और संस्कृति को निर्मित करने वाले हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सम्प्रदायों के लोग रहे हैं। बंसी निर्दोष के 'अख दोर' का हिन्दी-अनूदित यह उपन्यास हमारे जीवन-सम्बन्धों पर गम्भीरता से सोचने के लिए सहज मजबूर कर देता है।

डॉ० रैणा के गद्यानुवाद में भी वैसी ही गति है, जैसी पद्यानुवाद में। सच तो यह है कि गद्यानुवाद में भाषा और विचार-प्रवाह अपेक्षाकृत अधिक प्राणवंत हैं। अनुवाद-कर्म श्रमसाध्य एवं विरसता का संवाहक तो है ही, बन्धन भी इसमें कम नहीं होता। डॉ० रैणा ने अपनी अनुवादित कृतियों की भूमिकाओं में इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि—"प्रत्येक भाषा का अपना एक अलग स्वभाव होता है, अपनी एक अलग विशिष्ट प्रकृति होती है। उसे दूसरी भाषा में, शब्द और अर्थ की गरिमा का निर्वाह करते हुए, उतारना बड़ा जटिल कार्य है।" कहना न होगा कि दोनों भाषाओं की प्रकृतियों को ध्यान में रखते हुए भी डॉ० रैणा ने 'विशिष्ट स्थानीय बिम्बों व प्रयोगों को सहज बनाने के लिए यथा संभव कथाक्रम की स्वाभाविकता को बनाए रखा है।

डॉ० रैणा का पारिवारिक वातावरण भी पूरी तरह साहित्यिक सांस्कृतिक है। श्रीमती रैणा भी इस साहित्य-सृजन की प्रेरणा रही हैं। इसमें बच्चों की भी अपनी भूमिका है जो आशु (बेटा) अंजलि, अपर्णा बेटियां रूप-रंग से कश्मीरी बोली-भाषा और स्वभाव से हिन्दी—जैसे झेलम का चम्बल से संगम प्रतीत होते हैं। एक प्रबुद्ध चिंतक और एक अनुभवी लेखक होने के साथ-साथ वे, अति, सरल, सहज आत्मीय और पाण्डित्य के दंभ से दूर एक संवेदन शील इन्सान हैं। और लेखक से पहले किसी का इन्सान होना लाज़मी है। एक प्रकाशक के कथ्य की पुष्टि में उद्धृत करते हुए मैं भी यही कहूंगा कि "कश्मीरी उनके संस्कारों और हृदय की धड़कनों में व्याप्त है, तो हिन्दी उनके चेतना बोध पर छाई हुई है।"

———

अंतरंग

शकुन्तला सेठ

वर्तमान में जिया है, पीछे मुड़ कर नहीं देखा, भविष्य की कल्पना भी विशेष रुचिकर नहीं हुई। आज जीवन के अड़सठ वर्षों के लम्बे इतिहास की पुस्तक के बिखरे पन्नों को बटोरने का प्रयास करते हुए क्रम निर्धारित करने में उलझन सी हो रही है। प्रत्येक पन्ना आपस में इतना चिपका हुआ है कि आगे पीछे के लिए इनकी सिलवटें खुल नहीं रहीं। स्मृतियों की तेज़ हवा इन्हें और भी बेतरतीब किए जा रही है।

बचपन सुन्दर होता है। सबका नहीं! मां के प्यार की शीतल छाया शिशु-मन के कोमल पौधे को समय की तपन से बचा, विकास की धरती पर गहरे उतर फलने-फूलने का अवसर देती है पर यह प्यार सब को उपलब्ध कहां होता है? जो परिवार आर्थिक कठिनाइयों और बीमारी की विभीषिका से घिरा हो उस घर की मालकिन को कहां अवकाश रहता है कि अपने बच्चों की छोटी-छोटी आवश्यकताओं की ओर ध्यान दे किन्तु मेरी मां इसका अपवाद थी। आर्थिक उतार-चढ़ाव की आन्धियों ने उसे बुरी तरह झकझोर दिया था। घर में घुस आईं घातक बीमारियों ने उसके मन का चैन और शरीर का आराम छीन लिया था फिर भी उसकी आंखों ने मुझे कभी अनदेखा नहीं किया।

मां की शिक्षा में गहरी रुचि थी। यद्यपि उसने स्कूली शिक्षा नहीं ली थी पर घर में पूजा-पाठ के लिए आने वाले पण्डित जी से हिन्दी वर्णमाला का ज्ञान प्राप्त कर गीता, रामायण, भगवत् योगवसिष्ठ जैसी धार्मिक पुस्तकों के नियमित स्वाध्याय ने उसमें पढ़ने और भाषा में छिपे अर्थ को समझने की योग्यता पैदा कर दी थी। वह स्वयं सुशिक्षित थी और अपने बच्चों को सुशिक्षित देखना चाहती थी उनके इस शिक्षा-प्रेम ने मेरे मन में भी शिक्षा के प्रति रुचि के बीज बोये थे। पर किसी बीज का बोया जाना ही काफी नहीं होता उसे अंकुरित एवं पल्लवित होने के लिए पर्याप्त देख-रेख एवं समुचित वातावरण की अपेक्षा होती है। उस वातावरण की प्राप्ति के लिए मुझे अनथक संघर्ष करना पड़ा।

गांव के स्कूल में पांचवी तक शिक्षा ग्रहण करने के बाद आगे पढ़ने का कोई साधन न था पर मेरी मौसी के प्यार एवं उदार हृदय ने मेरे लिए सरस्वती

के मन्दिर के दुर्गम मार्ग को सुगम बना दिया। मैं गांव से जम्मू आ गई। सन् 1939 में मैंने आर्य समाज पुरानी मण्डी के कन्या विद्यालय में हिन्दी की भूषण श्रेणी में प्रवेश लिया।

पढ़ने की रुचि तो बचपन से ही थी। पांचवीं कक्षा तक आते-आते मैं, रामायण, महाभारत जैसी धार्मिक पुस्तकों के अतिरिक्त भारत-भारती जैसी साहित्यिक पुस्तकें पढ़ने और समझने लगी थी। भूषण श्रेणी में प्रवेश ने मेरी उस रुचि को दिशा दी। जीवन का नया अध्याय शुरू हुआ। हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं, नाटक, कविता, कहानी आदि के माध्यम से हिन्दी साहित्य के नए पुराने लेखकों का परिचय मिला। मैं बड़ी लग्न से पढ़ने लगी। मेरा पढ़ना केवल परीक्षा के लिए न था। मुझे पढ़ने में आनन्द आता था। श्री मैथिलीशरण गुप्त, माखन लाल चतुर्वेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान आदि कवियों की देश प्रेम की कविताएं पढ़ते-पढ़ते मैं आत्मविभोर हो जाती। जयशंकर प्रसाद और महादेवी की रचनाएं पढ़ने पर एक विशेष प्रकार की आत्म-विस्मृति स॑ होती। नाटक पढ़ना और उसका मंचन मुझे बहुत अच्छा लगता था। इन्हीं दिनों मैंने स्कूल की छात्रा-सभा में खेलने के लिए 'नीलदेवी' और 'पढ़ी लिखी बहु' दो नाटक लिखे। पहला नाटक 'भारत की वीर नारियां' पुस्तक में लिखी कहानी के आधार पर लिखा था और दूसरा पूर्णरूप से मौलिक था। इससे पूर्व पांचवीं कक्षा में पढ़ते हुए भी मैंने 'कृष्ण सुदामा' नाटक लिखा और उसका मंचन भी किया। इस प्रकार मेरी साहित्यिक यात्रा की शुरूआत नाटक लेखन से हुई पर इस दिशा में मेरी लेखनी अधिक नहीं बढ़ी। इन दो तीन आरम्भिक नाटकों के बाद एक नाटक 'कलंक' मैंने अपनी पत्रिका के लिए लिखा।

एक वर्ष के निरन्तर अध्ययन और लेखन जो उस समय श्रेणी-कक्ष तक ही सीमित था, से मेरी अभिव्यक्ति में धीरे-धीरे निखार आ रहा था कि भाग्य ने मुझे जीवन के एक अजीब मोड़ पर ला कर खड़ा कर दिया। एक ही वर्ष में मां का स्नेहिल आंचल और पिता का वरद-हस्त, जिनकी छाया में मेरा भाव-मग्न मन स्वर्णिम सपनों का संसार रचता रहता था, मुझ से छिन गए हृदय की पीड़ा आंसुओं के साथ शब्दों में भी अभिव्यक्त होने लगी। मैंने पहली कविता लिखी—

मरघट में जलता देखा स्नेह
ऊंची लपटों में उठ-उठ वह
मौन भरे इंगित करता,
मिलन निशा की वेला में,
था भूल गया निज देह गेह।
मरघट में जलता देखा स्नेह॥

जीवन का आनन्द खो गया था, भविष्य की कल्पना अन्धकार में विलीन हो गई थी, फिर भी मुझे जीना था। प्रश्न मन को कुरेन्ता, मैं अपने से पूछती—

"ओ, सूने मन्दिर के दीपक !
आज बता दो कैसा चाव !
झिलमिल-झिलमिल जलते जाते
लिए हुए किसका अनुराग ।"

समय की उग्र धूप मुझे असमय ही पका गई पर सुखा नहीं सकी। मेरा अल्हड़ कैशोर्य असमय प्रौढ़ बन गया। मैं परहित में अपने को खोकर जीवन का आनन्द लेने लगी। मन ने सांसारिक रंगीनियों से भरे सुख की चाहत को सदा-सदा के लिए त्याग दिया।

उन दिनों जम्मू में 'हिन्दी साहित्य मंडल' की स्थापना हो चुकी थी। मंडल की गोष्ठियां प्रायः आर्य समाज पुरानी मंडी के हाल में होती थीं। मैंने इन गोष्ठियों में जाना शुरू किया। मेरी चेतना में रुद्ध भावनाओं ने अभिव्यक्ति का मार्ग पाया। मैं कविता, कहानी लिखने लगी। मंडल की इन गोष्ठियों से प्रोत्साहित हो महिला लेखिकाओं का एक वर्ग उभरा। हमने हिन्दी साहित्य मंडल की महिला शाखा की स्थापना की . इसकी नियमित गोष्ठियां होने लगीं। इस समय इन लेखिकाओं की भावपूर्ण सुन्दर रचनाओं में जम्मू में हिन्दी साहित्य का उज्ज्वल भविष्य दिखता था। पर न जाने क्यों, कैसे और कब घर गृहस्थी की मोहिनी ने इनकी लेखनी छीन ली। इनके गीतों के मधुर स्वर मुखरित होते ही मौन हो गए। मेरी उन सहयोगी लेखिकाओं में से राज भल्ला ही हैं जिनकी लेखनी आज भी साहित्य-सृजन-रत है । इन मित्र लेखिकाओं की प्रेरणा ने ही मुझे हिन्दी मासिक पत्रिका 'उषा' के प्रकाशन के लिए प्रोत्साहित किया।

'उषा' हिन्दी मासिक पत्रिका का प्रकाशन मेरे जीवन की एक विचित्र घटना है। 1942-43 में जम्मू से प्रकाशित होने वाली 'उषा' अपने ढंग की अकेली साहित्यिक एवं राजनैतिक पत्रिका थी। तीन-चार वर्षों के अपने छोटे से जीवनकाल में इसने हिन्दी पाठकों की यथा सम्भव सेवा कर पर्याप्त ख्याति प्राप्त की। काल की इस लघु रेखा ने मुझे क्या दिया इसका इतिहास मैं ज्यों ही पढ़ने बैठती हूं तो कोहरे में से उभरते दृश्यों के समान उसका एक-एक बिन्दु धीरे-धीरे मानस की गहराइयों में से उभरता-उठता प्रतीत होता है।

वे दिन थे, जब हर किशोर मन अपने आप को कुछ समझने लगता है। काम करने के लिए एक विशेष प्रकार की स्फूर्ति होती है। आज उन दिनों की याद मुझे झिझोड़ कर रख देती है। कितना उत्साह ! कितनी स्फूर्ति ! कितनी ललक थी काम करने की। एक दिन मित्र मंडली में बैठे-बैठे सोचा, दूसरे कालेजों की

तरह क्यों न अपने विद्यालय की भी एक पत्रिका निकाली जाए। जिसमें अपने मित्र-वर्ग की रचनाएं, कविताएं, कहानियां, नाटक आदि छपा करें। बात तो हंसी में की थी किन्तु इस विचार से मस्तिष्क पर एक नशा सा छा गया और इस दिशा में काम गम्भीरता से किया जाने लगा। मेरी प्रेरणा, सुशीला तुली इस पत्रिका की प्रकाशक और सम्पादक बन गई। मेरे भाई अयोध्यानाथ वैद के सुझाव एवं सहायता से पत्रिका प्रकाशन के लिए सरकारी अनुमति प्राप्त की गई और 'उषा' अनजाने में ही विद्यालय की नहीं हमारी निजी पत्रिका बन गई—सम्पादन कला और अनुभव से परे होने के कारण कठिनाइयों का आना तो स्वाभाविक था पर मन का उत्साह उन कठिनाइयों की ओर आंख उठा कर भी देखना नहीं चाहता था। प्रकाशन पर आने वाले व्यय और उससे उत्पन्न अर्थ संकट का विचार तक नहीं किया था। हमें तो बस अपनी रचनाओं को छपा हुआ देखने की उत्सुकता थी।

कठिनाइयों से आंख मूंद लेने पर वे समाप्त तो नहीं हो जातीं। 'उषा' को छपाई के लिए प्रेस में भेजने के साथ ही कठिनाइयों की एक लम्बी कतार सामने आ खड़ी होने लगी। पत्रिका के लिए सामग्री का चयन, शोधन, टिप्पणी लेखन का तो काम था ही जिसके कारण अपना अध्ययन बाधित होता नज़र आ रहा था किन्तु सब से बड़ी समस्या थी 'उषा' के ग्राहक बनाने और धन जुटाने की। थोड़े ही दिनों के अनुभव ने बता दिया था कि पत्रिका के ग्राहक बनाने आसान नहीं और थोड़े से ग्राहकों से प्राप्त धन से पत्रिका चला पाना सम्भव नहीं। जैसे-तैसे एक वर्ष समाप्त हुआ। मैं उस वर्ष विशारद की परीक्षा नहीं दे सकी। धन जुटाने के लिए विज्ञापन प्राप्त करना आवश्यक था अत: इस दिशा में काम करने के लिए श्री अयोध्यानाथ वैद का सहयोग लिया। प्रेस और सम्पादन के काम में उनका सहयोग बहुत उपयोगी रहा। मैं अपने अध्ययन के लिए थोड़ा बहुत समय निकालने लगी किन्तु विज्ञापन प्राप्ति में कोई विशेष सफलता नहीं मिली। आर्थिक कठिनाइयों का जैसे-तैसे सामना करते 'उषा' तीन वर्ष चली। सन् 1946 में इसका प्रकाशन बन्द हो गया। कई बार अपने परिचितों ने इसके पुन: प्रकाशन की बात चलाई पर मेरे लिये यह संभव नहीं हो सका। हिन्दी के साहित्यिक पत्र के लिए, अपने राज्य में पाठकों की दृष्टि से आज भी बदलाव नहीं आया।

'उषा' के सम्पादन ने मुझे केवल कठिनाइयां और समस्याएं ही दीं, ऐसा नहीं। कर्म की तन्मयता अपने में ही एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। इसके अतिरिक्त मैंने बहुत कुछ सीखा और पाया। 'उषा' अपने समय की उच्च कोटि की पत्रिका थी। उसमें तत्कालीन हिन्दी के प्रसिद्ध लेखकों की रचनाएं छपती थीं। उन साहित्यकारों साहित्य-प्रेमियों, राजनीतिज्ञों स्थानीय एवं भारत के अन्य

भागों के कई गणमान्य व्यक्तियों से मिलने के अनेकों अवसर मिले। जिन में 1943 में श्रीनगर में हुआ पत्रकार सम्मेलन चिर स्मरणीय है। इस सम्मेलन के प्रधान श्री मुलख राज सराफ 'रणवीर' के सम्पादक थे और सम्मेलन का उद्घाटन 'अमृत बाजार पत्रिका' के सम्पादक तुषारकान्ति घोष ने किया था। इस सम्मेलन में अपने एवं पड़ोसी राज्य पंजाब के बीसियों पत्रकारों ने भाग लिया। यह सम्मेलन तीन दिन चला, कई प्रस्ताव पारित किए गए। पत्रकारिता से सम्बन्धित कई समस्याओं पर चर्चाएं हुईं और समाधान ढूंढने के प्रयास किए गए। अपनी कलम से जन-चेतना को जागृत करने वाले पत्रकारों से व्यक्तिगत परिचय का यह मेरे जीवन का प्रथम अवसर था। इस प्रकार 'उषा' मेरे जीवन में ज्ञान-वृद्धि एवं सामाजिक सम्बन्धों के दायरों के विस्तार का साधन बनी। 'उषा' का उषा-काल जैसा छोटा किन्तु अति मधुर जीवन मेरी चेतना पर अमिट छाप छोड़ गया।

'उषा' में स्थानीय लेखकों सर्व श्री धर्मचन्द प्रशान्त, रामनाथ शास्त्री, दीनू भाई पंत की रचनाएं तो छपती ही थीं इनके अतिरिक्त श्री शिव मंगल सिंह सुमन, हरिकृष्ण प्रेमी, मदन मोहन 'राकेश' देवराज दिनेश, प्रभाकर माचवे शान्ति प्रिय द्विवेदी जैसे हिन्दी के प्रसिद्ध लेखकों की रचनाएं छापने का भी 'उषा' को गौरव मिला। इनमें से कई लेखकों से व्यक्तिगत परिचय होने से मित्रता का दायरा बढ़ा, लेखन में प्रोत्साहन और प्रेरणा मिली।

यों तो मेरा सारा जीवन ही एक संघर्ष कथा है। मुझे कभी भी सरल और समतल प्रगति-पथ नहीं मिला पर उन्नीस सौ चालीस का दशक स्वावलम्बी जीवन का प्रथम अध्याय, सामाजिक क्षेत्र में सक्रियता एवं पारिवारिक कष्टों से जूझने की घटनाओं से भरा है। जैसे लुहार के हथौड़े की हर चोट लोहे को नया आकार देती है वैसे ही हर विपत्ति ने मेरे जीवन को नई दिशा और मन को विषमताओं से जूझने की शक्ति दी।

मेरी बहन अस्थि-क्षय रोग से पीड़ित थी। इस घातक रोग के असह्य कष्ट को उन्होंने चौदह वर्षों के लम्बे अन्तराल तक सहा। इससे मिली विकलांगता की पीड़ा परिवार एवं उनके अन्तर्मन को आजीवन व्यथित करती रही किन्तु रोग से मुक्ति को ईश्वर की कृपा, अवधि की समाप्ति अथवा किसी तपस्वी का चमत्कार ही कहूंगी। एक दिन अपने गांव के एक पंसारी ने मेरे पिता जी को बताया कि उसके पास एक रक्त शोधक अर्क का नुसखा है। आप अपनी बेटी को उस अर्क का सेवन करवा कर देखें। एलोपैथी से निराश मेरे पिता जी ने पंसारी की बात मान घर में ही अर्क तैयार कर बहन को पिलाना शुरू कर दिया। आठ दिनों के सेवन मात्र से अर्क का प्रभाव दिखने लगा। शरीर में होने वाली असह्य पीड़ा कम होने लगी। दो मास में पीड़ा से पूर्ण मुक्ति

मिली और छः मास में पूर्ण स्वास्थ्य का लाभ प्राप्त हो गया। चौदह वर्षों की सेवा के उपरान्त बेटी को स्वस्थ देखने की प्रसन्नता माता-पिता के भाग्य में नहीं बंधी थी। अफीम के निरन्तर सेवन का प्रभाव उनके मस्तिष्क से धीरे-धीरे उतर ही रहा था कि पिता जी नहीं रहे और बहन ने अभी ठीक से भोजन लेना शुरू नहीं किया था कि मां को क्षय ने आ घेरा। सम्भत: बहन की सेवा में दिन-रात जुटे रहने के कारण उन में रोग संक्रमित हुआ था।

दो-एक वर्षों से मां अपने गले में हल्की सी चुभन महसूस करती थी पर बहन की बीमारी ने उन्हें अपने सम्बन्ध में सोचने का समय ही न दिया। पिता जी की मृत्यु के बाद रोग की भयानकता प्रकट होने लगी थी। गले में पीड़ा और खाने-पीने में असुविधा होती। मैं जम्मू में थी और प्राज्ञ की परीक्षा की तैयारी में लगी थी पर मेरा ध्यान मां की बीमारी में रहता था। एक दिन गांव से एक व्यक्ति मां का सन्देशा लेकर आया।

घर पहुंच कर मैंने जो देखा उसकी याद से आज भी हृदय छलनी होता है। मां बिस्तर पर पड़ी थीं। उठ तक नहीं सकती थीं। बहन पहले ही रोग से निर्बल और अपंग थीं। घर में, दो समय काम करके चली जाने वाली सेविका के सिवा कोई व्यक्ति मां की देख-भाल करने वाला नहीं था। रोग की भयावहता और उस के भय-वश मां ने मेरी बड़ी बहन, जो लाहौर में अपने ससुराल में थी, को किसी अच्छे अस्पताल में उन्हें भर्ती करवाने के लिए लिखा था और बहन का उत्तर भी आ चुका था कि मां के लिए गुलाबदेवी अस्पताल में स्पैशल कमरे का प्रबन्ध कर लिया गया है। मैं दूसरे ही दिन रोगी मां और बहन को लेकर लाहौर चली गई। स्टेशन पर मेरी बहन और बहनोई आए हुए थे। वे हमें टैक्सी से सीधे अस्पताल ले गए। यहां मां की व्यवस्था अच्छी थी। मैं दूसरे ही दिन जम्मू लौट आई क्योंकि स्पैशल कमरे पर होने वाले खर्च का प्रबन्ध करना था। मन चिन्तित था पर मुझे इस के लिए अधिक सोचना नहीं पड़ा। लौट कर आते हुए जम्मू के स्टेशन पर ही रिश्ते के भाई से भेंट हुई, जिसकी सहायता से इलाज पर खर्च होने वाले धन की समस्या का समाधान सरलता से हो गया और मैं थोड़ी निश्चिन्त हो गई। निश्चिन्त! नहीं, मां के रोग की चिन्ता दिन-रात हथौड़े सी बजती जिस की चोट हर पल को पीड़ादायी बना जाती। पढ़ने में ज़रा भी मन नहीं लगता था। मैं मां के पास रहना चाहती थी। उनकी सेवा करनी चाहती थी। जैसे भी हो परीक्षा देनी थी। सोचा, परीक्षा में थोड़े ही दिन हैं। उसके बाद मां के पास ही रहूंगी। जैसे मां का रोग उसे बहुत दिन जीने नहीं देगा। कैसी सोच थी मेरी? मां कुछ ही दिनों बाद, मुझे जिन्दगी के झुलसते धरातल पर अकेला छोड़ कर चली गई। एक मरुस्थल था—जहां सभी दिशाएं लुप्त थीं। पर मुझे तो दिशा खोजनी थी। मैंने प्राज्ञ की परीक्षा दी और

पास हो गई। अब समस्या थी बहन को अस्पताल से घर लाने की और अपने जीवन को निश्चित दिशा देने की।

मेरी मौसी पर मेरा पर्याप्त बोझ था। तीन वर्ष से वे मेरी शिक्षा और खान-पान का सारा खर्च सहन कर रहीं थीं। उनकी उदारता बहन का भार वहन करने से भी इन्कार करने वाली नहीं थी, यह मैं जानती थी पर मुझ से ही कहते नहीं बन रहा था क्योंकि मौसी का बहुत बड़ा सम्मिलित परिवार था। उस सम्मिलित परिवार में अपना काम स्वयं करने में असमर्थ व्यक्ति के लिए विशेष प्रबन्ध कर, उस पर पूरा ध्यान दे पाना और भी कठिन था अतः मैंने बहन को अलग से किराये के मकान में रखने का निर्णय लिया। मेरे निर्णय को उचित ठहराने के सिवा मौसी के पास दूसरा विकल्प न था। मैं और मेरी सहेली सुशीला तुली कई दिन घर की खोज में पक्के घरों और पुरानी-मंडी के आस-पास मुहल्लों में घूमती रहीं पर हमारी मर्जी का किराये का मकान न मिला। मकान मालिकों के शंकापूर्ण प्रश्न मन को व्यथित कर प्रायः रुला देते। न जाने कैसे मेरे निराश मन में मौसी के एक कच्चे मकान का ध्यान आया। मकान उन दिनों खाली था। तीन चार कमरों का छोटा सा अकेला मकान, ईंटों के फर्श का पक्का सेहन, बहन के लिए उपयुक्त लगा। सबसे अधिक सुविधा की बात यह थी कि घर मौसी के पुरानी मुहल्ले में था। मौसी के रिश्तेदार उस मुहल्ले में रहते थे, उस मुहल्ले तथा बाजार में मौसी की काफी जायदाद और दुकान भी थी। इस प्रकार मुहल्ले में सभी लोग जान-पहचान के होने के कारण बहन की देख-रेख में सहायक सिद्ध हो सकते थे। इसके अतिरिक्त मेरा स्कूल, विद्यापीठ भी साथ के मुहल्ले में था।

मेरे कहने भर की देर थी कि मौसी ने घर में सफाई सफेदी आदि करवा उसे रहने लायक बनवा दिया और बहन के पास पूरे समय समय की देखभाल के लिए सेविका का प्रबन्ध भी कर दिया। बहन अस्पताल से आकर इस नये घर और नये महौल में रहने लगीं। मेरा सहारा उनके दुखी मन के लिए काफी तो न था पर बहुत कुछ था और मेरे लिए उनका जम्मू आ जाना मां के स्नेहिल आंचल का पुनः उपलब्ध हो जाने के समान था।

मौसी तो बहन का सारा खर्च वहन करने को तैयार थीं पर मैंने अपने निर्णय के अनुसार आर्य समाज पुरानी मंडी के कन्याविद्यालय में अध्यापन कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। यद्यपि मासिक वेतन अधिक न था पर मौसी द्वारा बहन पर किए जा रहे धन में अपना थोड़ा सा योगदान मेरे मन को असीम संतुष्टि देता था। इस विद्यालय में काम करते मुझे अभी थोड़ा ही समय हुआ था कि इसी विद्यालय में अध्यापन कार्य में संलग्न पं० दयाराम जी शास्त्री ने सन् 1943 में "संस्कृत महिला विद्यापीठ" के नाम से अपना विद्यालय चलाना

प्रारम्भ किया और हिन्दी की रत्न, भूषण, प्रभाकर श्रेणियों के अध्यापन के लिए मुझ से सहयोग मांगा। गत चार वर्षों से मैं उन से ही शिक्षा ग्रहण करती आ रही थी उनके पितृ-वत् स्नेहपूर्ण व्यवहार और उनकी विद्वता से मैं प्रभावित थी। समाज में वे सदाचारी व्यक्ति के रूप में सम्मानित थे, उनके साथ काम करने में मेरे परिवार के किसी भी व्यक्ति को कोई आपत्ति न थी अत: मैंने उनका आग्रह स्वीकार कर लिया। मुझे लगा कि मैंने अपनी मंजिल की दिशा पा ली है। दिशा तो ज़रूर पा ली थी पर रास्ता इतना कंटकाकीर्ण एवं ऊबड़-खाबड़ था जिसे साफ एवं समतल करते सारा जीवन बीत जाएगा तब सोचा न था।

मैं कांटों पर चलती आई,
ऊबड़-खाबड़ पथ लांघ दिये।
ऊंचे-नीचे पर्वत-टीले—
सारे ही मैंने फांद दिए।
गूंजी न जो मेरी ध्वनि से
ऐसी भी कोई गार नहीं
मेरा फूलों से प्यार नहीं
मैं उस उपवन की कोयल हूं,
कभी आई जहां बहार नहीं।

सन् 1947 में पं० दयाराम जी शास्त्री जिनके भरोसे शास्त्री विद्यापीठ में कार्य-प्रारम्भ किया था वे किन्हीं आर्थिक विवशताओं के कारण अपने गांव चले गए। उस दिन से आज तक मैंने विद्यापीठ के सम्पूर्ण उत्तरदायित्व को अकेले ही वहन किया है। जीवन यात्रा के ये पचास वर्ष किन विसंगतियों से लोहा लेते हुए व्यतीत हुए इस का एक अपना अकथ इतिहास है। शुरू-शुरू में किराये के दो कमरों में चलने वाला विद्यापीठ आज एक प्रतिष्ठित शिक्षा संस्थान है। जिस में हाई स्कूल की आवश्यकताओं के अनुरूप सभी शैक्षणिक सुविधाएं उपलब्ध हैं। इसे इस स्थिति में लाने के लिए मुझ किन आंधी और तूफानों से गुज़रना पड़ा है इससे मेरे परिचित लोग थोड़ा-बहुत परिचित अवश्य हैं पर आंधियों के थपेड़ों के आघातों का अनुमान वे नहीं लगा सकते पंजाबी की कहावत है, "लग्गी जानन दो जने, लोहा या लुहार" मुझ पर चरितार्थ है।

सन् 1943 में जब विद्यापीठ की स्थापना हुई देश गुलाम था। प्रत्येक चिन्तनशील देशभक्त को यह गुलामी अखरती थी। 1942 के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन ने मेरे मन पर गहरा प्रभाव छोड़ा था। मैं कुछ करना चाहती थी। देश-प्रेम की घुट्टी मुझे बचपन से ही मिली थी किन्तु विचारों को क्रिया न्वित करने की न तो मेरी अभी उम्र ही थी और न ही कोई अवसर एवं क्षेत्र ही उपलब्ध हुआ था। मेरे परिवार के लोग सन् 1918 से ही स्वतन्त्रता

संग्राम में थोड़ा बहुत सक्रिय एवं भावनात्मक भाग लेते आए थे। रौल्ट-एक्ट के विरोध में होने वाले प्रदर्शनों में भाग लेने के कारण यद्यपि मेरे मामा जेल की सजा भी काट चुके थे किन्तु स्वतन्त्रता संग्राम में मेरे परिवार का यह योगदान किसी नेता सा नहीं सामान्य भारतीय देश भक्त नागरिकों का सा था। बचपन में अनायास ही हृदय की धरती पर पड़े देश-प्रेम के बीज विद्यापीठ के अनुकूल वातावरण में अंकुरित एवं पल्लवित हो निश्चित दिशा में पनपने लगे।

साम्प्रदायिकता से परे विशुद्ध देश-प्रेम "राष्ट्रं नः प्राणाः" राष्ट्र हमारे प्राण हैं की भावना एवं भारतीय संस्कृति को अपने देश भारत में प्रतिष्ठित देखने के विचार से संस्थापित 'विद्यापीठ' की अपनी अलग पहचान थी। "सा विद्या या विमुक्तये" वेद वाक्य का अर्थ—विद्या वह है जो मनुष्य को शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक गुलामी से मुक्ति दिला, उसे अन्याय के विरुद्ध, न्याय के पक्ष में संघर्ष करने की शक्ति प्रदान करती है। विद्यापीठ के अभिभावकों के समक्ष खुली पुस्तक सा स्पष्ट था। हम गांधी जी के आदर्शों के अनुसार चरित्र की पवित्रता पर विशेष ध्यान देते थे। मोटी खादी की वेश-भूषा एवं भारतीय संस्कृति के प्रति पूर्ण निष्ठा विद्यापीठ की छात्राओं की पहचान थी। सदाचार, शिष्टाचार, देश-प्रेम की शिक्षा विद्यापीठ में तो दी ही जाती थी किन्तु इस विचारधारा को सामान्य जनता तक पहुंचाने के उद्देश्य से विद्यापीठ की छात्राओं, शिक्षिकाओं एवं मित्रों के सहयोग से गली-गली युवा एवं बाल अनुशीलन समितियों की स्थापना की गई। इन समितियों में आयु के अनुसार साप्ताहिक कार्य-क्रम होते। बड़ी छात्राएं एवं शिक्षिकाएं बाल समितियों का संचालन करतीं। इन समितियों की साप्ताहिक बैठकों के अतिरिक्त ग्राम-भ्रमण, हरिजन बस्तियों में सत्संग 26 जनवरी स्वतन्त्रता दिवस आदि उत्सवों के आयोजन भी होते थे।

विद्यापीठ उस समय अपने ढंग की अकेली संस्था थी। यहां की छात्राएं देश-प्रेम की प्रज्ज्वलित शिखाओं के समान समाज के हर कार्य-क्षेत्र में अपने विशिष्ट रूप में दिखाई देती थीं। मुहल्लावार अनुशीलन समितियों के माध्यम से दूसरे स्कूल-कालेजों की छात्राएं भी दीप्त हो उठी थीं जिन की लौ से जम्मू का हर कोना जगमगाने लगा था। हिन्दी साहित्य मंडल की गोष्ठियों में, विशेष रूप से आयोजित उत्सवों में, मेरे घर में किए जाने वाले धार्मिक अनुष्ठानों में, मेरी हिन्दी पत्रिका 'उषा' में इनके स्वर गूंजते थे। इस प्रकार विद्यापीठ के द्वारा मेरी सामाजिक, राजनैतिक एवं साहित्यिक कर्मठता उभर कर सामने आ रही थी और विद्यापीठ की छात्राएं, अध्यापिकाएं मेरे हर कार्य क्षेत्र में सहयोगी बन गईं।

सन् 1946-47 का वर्ष मेरे विचारों की दृढ़ता की परीक्षा का वर्ष था जो जीवन-यापन के लिए किए गए निर्णयों की परख के लिए कसौटी बन कर

आया था। मेरा एक मात्र आश्रय, मेरी मौसी 1945 के अन्त में संसार से विदा हो गई। 1947 में देश के विभाजन ने अनगिणत परिवारों को उनकी धरती से उखाड़ अन्यत्र जाने को विवश कर दिया था। सभी परिजनों के भरपूर आग्रह पर भी मैंने उनके साथ जम्मू को छोड़ अन्यत्र जाना स्वीकार न किया क्योंकि कबायलियों के आक्रमण की विभीषिका से संत्रस्त अपनी धरती की सेवा करने के इस अवसर को मैं अनदेखा नहीं कर सकती थी।

कहने को तो सदियों की गुलामी के बाद देश आज़ाद हुआ था पर साम्प्रदायिकता के उन्माद की आग में जल कर अपंग हुए परिवारों के हृदय आज भी उस आग की असह्य जलन को महसूस करते हैं तब यों तो इस आग में सारा देश ही जल रहा था पर अपने राज्य को विभाजित देश की सीमा रेखा पर स्थित होने के कारण युद्ध की भीषण आंधी के थपेड़ों को भी सहना पड़ा था। हज़ारों की संख्या में कबायली आक्रान्ता अपने राज्य की सीमा लांघ राज्य के भीतरी भाग में प्रवेश कर गए थे। इन आक्रान्ताओं से जान और माल से कहीं अधिक नुक्सान हुआ था मातृशक्ति के सम्मान का। अत: उस समय आवश्यकता थी स्त्री जाति को अपमान के दु:ख से उबार कर उसके निराश हृदय में आशा की ज्योति को पुन: जागृत करने की। आत्म सम्मान की रक्षा के लिए आत्म-विश्वास को पैदा करने की। इस दिशा में मैंने अपनी मित्र मंडली के साथ काम करने का निर्णय लिया।

एक दिन पता चला, भारतीय सेना के प्रधान सेनापति (Commondcr in Chief) जनरल के० एम० करियप्पा जम्मू के गैस्ट हाऊस में ठहरे हुए हैं, उस समय की साहसी लड़कियां, मैं और सुशीला तुली अपनी सहयोगी लड़कियों के साथ उन से मिलने चल पड़ीं। वह हमें सौहार्दपूर्ण ढंग से मिले। हमने उनके सामने अपनी योजना रखी कि हम जम्मू की महिलाओं के लिए शस्त्र-प्रशिक्षण का एक केन्द्र खोलना चाहती हैं ताकि स्त्रियां समय आने पर आत्म-रक्षा के साथ देश की आन्तरिक सुरक्षा का उत्तरदायित्व भी सम्भाल सकें। हमारी बातें सुन कर पहले तो वे हंसे और कहने लगे, सेना की पराजय की स्थिति में दुशमन प्रशिक्षित जवानों को भी बन्दी बना कर ले जाता है। आप बन्दूक चलाना सीख कर अपनी और अपने घर-परिवार की सुरक्षा की बात सोचती हैं! जब हमने सुरक्षा के अतिरिक्त महिलाओं में शस्त्र-प्रशिक्षण से आत्मविश्वास पैदा करने की बात कही तो वह हम से सहमत हो गए। उन्होंने हमें सलाह दी कि सैनिक-प्रशिक्षण-केन्द्र खोलने के लिए हमें तत्कालीन महारानी से सहयोग लेना चाहिए। उनके सहयोग से यह केन्द्र खुल सकता है और प्रशिक्षण के लिए शिक्षक एव शस्त्र भी मिल सकते हैं। हम ने उनका यह परामर्श मान लिया।

उन दिनों महारानी जी ने मुबारक मंडी स्थित राजाओं के पुराने महलों के एक हाल में महिला-सिलाई-केन्द्र खोला हुआ था जिस में महारानी स्वयं जम्मू की महिलाओं के साथ बैठ कर शरणार्थियों के लिए कपड़े तैयार करतीं और तैयार कपड़ों को शरणार्थियों में बांटती थीं। इस केन्द्र में मिलिट्री के जवानों के लिए स्वैटर, जुराबें, दस्ताने आदि भी तैयार किए जाते थे। हम महारानी से सर्व-प्रथम इसी केन्द्र में मिलीं। उन्हीं के संरक्षण में उन्हीं के नाम से 'महारानी सेवा दल' महिलाओं के लिए सैनिक-प्रशिक्षण केन्द्र खोलने की अपनी योजना उनके सामने रखी और कहा कि यदि वे चाहें तो उनके इस सिलाई-सैंटर को भी 'महारानी सेवा दल' का एक अंग बनाया जा सकता है। उन्होंने इस सम्बन्ध में अपनी स्वीकृति देने से पूर्व महाराजा के सामने अपनी योजना रखने को कहा हमने महाराज से भेंट की और योजना को कार्य रूप में परिणत करने की स्वीकृति मिल गई। कुछ ही दिनों में नगर के महारानी जनाना बाग में "सैनिक प्रशिक्षण-केन्द्र" खुल गया।

महारानी सेवा दल चार विभागों में विभक्त था जिनके प्रमुख पदाधिकारी थे—

सैनिक शिक्षा विभाग—शकुन्तला सेठ

बौधिक विभाग—सुशीला तुली

प्राथमिक चिकित्सा विभाग—लीला रामपाल

शरणार्थी सहायता विभाग—वेद मेहता

इस दल की एक शाखा उधमपुर में भी खोली गई जिस की देख-रेख का भार श्रीमती शान्ति गुप्ता और प्रकाश वर्मा ने सम्भाला।

इस दल के सैनिक शिक्षा केन्द्रों से जम्मू और उधमपुर की सैंकड़ों लड़कियों ने बन्दूक, पिस्तौल, स्टेनगन आदि चलाने और ग्रेनेड फैंकने की शिक्षा ग्रहण की। इसके अतिरिक्त नर्सिंग और हवाई जहाज को संकेत देने का सामान्य ज्ञान भी प्राप्त किया। दल की लड़कियों ने सैनिक शिविरों में जा कर सैनिकों के मनोबल को बढ़ाने के लिए सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किए। शरणार्थी कैम्पों में घूम-घूम कर शरणार्थियों में कपड़े, सिलाई की मशीनें आदि बांटने में महारानी जी को सहयोग दिया और अपनी सांत्वना भरी वाणी से निराश हृदयों में आशा का संचार करने का प्रयास किया।

एक वर्ष के पश्चात् 'सेवा दल' का वार्षिक अधिवेशन हुआ जिस में शिक्षणार्थियों को प्रमाण-पत्र तथा पारितोषिक दिए गए। जनरल करियप्पा का सन्देश पढ़ कर सुनाया गया।

हम लोग सेवा दल की महिलाओं के लिए एक स्थायी सैनिक शिक्षा केन्द्र बनाना चाहते थे किन्तु माहौल में ठहराव आते ही स्कूल कालेज खुल गए।

पुस्तकों में उलझे विद्यार्थियों के पास मिल्ट्री ट्रेनिंग के लिए समय न रहा अतः सन् 1949 में सेवा दल बन्द कर दिया गया और मैंने विद्यापीठ का जो दरवाज़ा पं० दयाराम जी बन्द कर चले गए थे पुनः खोल दिया।

मुझे दयाराम जी शास्त्री से विद्यापीठ को चलाने के लिए केवल विद्यापीठ का नाम और किराये के मकान के दो कमरे मिले थे। मैंने उन दो कमरों में हिन्दी भूषण और प्रभाकर दो श्रेणियों का अध्यापन कार्य शुरू कर दिया। कुछ एक महीने श्रीमती मदन कुमारी ने मेरा साथ दिया और किसी एक के छुट्टी लेने पर कार्यालय के काम में श्रीमती राज भल्ला का सहयोग भी मिलता रहा। प्रारम्भिक दिनों में विद्यापीठ में हम सब का काम अवैतनिक ही था। छात्रों से जो शिक्षा-शुल्क मिलता उस से भवन का किराया, चपरासिन का वेतन और चाक आदि शिक्षण सामग्री का खर्च ही कठिनता से चलता था पर इन दोनों बहनों का अवैतनिक सहयोग अधिक समय तक नहीं मिल सका। विवाह के बाद ये दोनों जम्मू से बाहर चली गईं।

हमारे सामने आर्थिक कठिनाई तो थी ही उस पर श्री लाल चन्द नन्दा के मकान खाली करने के सुझाव पर मैं दीवाननी माता विद्यावती जी से मिली और विद्यापीठ के लिए स्थान देने की याचना की। माता जी किसी उत्सव में विद्यापीठ में पधार चुकी थीं। वे हमारे कार्य और उद्देश्य से प्रभावित थीं अतः उन्होंने 1950 में दरबार गढ़ मार्ग पर स्थित अपना एक विशाल भवन (पुराना डाकखाना) विद्यापीठ के लिए मुझे लाइसेंस पर दे दिया। ईश्वर की कृपा और विद्यापीठ की कार्यकारिणी के प्रधान वकील दीना नाथ जी महाजन की सहायता से मैंने इस कठिनाई पर विजय पा ली। आज मेरा तप वृक्ष विद्यापीठ अपनी प्रतिष्ठा में अपना सानी नहीं रखता।

बचपन से आज तक बराबर लेखन में 'सरसिज', 'संगीत कथाएं', 'सुन लो बच्चो', 'ज्योति कण', 'समयधारा', 'रास्ता और मंजिल' (भक्ति परक रचनाएं) अन्य चिन्तन के क्षणों की देन हैं। जीवन यात्रा का पथ संघर्ष पूर्ण होने के कारण अधिक तो नहीं पर जो थोड़ा बहुत लिख पाई हूं उसे छः पुस्तकों में संकलित कर मां भारती के चरणों में अर्पित कर चुकी हूं।

मुझे जम्मू से बहुत प्यार है। जम्मू ने मुझे भरपूर आदर और स्नेह दिया है। जीवन में मैंने आग तो बहुत पी पर गलत समझौता कभी नहीं किया। मुझे बहुत से सम्मान तथा पुरस्कार भी मिले। ये सम्मान, दरअसल मेरे नहीं, मेरी धरती की गंध और उसके संस्कारों के हैं।

जिस उम्र में आंखों की कच्ची मिट्टी में टटके स्वप्नों के अखुए जागते हैं वह विषमताओं के धुएं से धुंधला गई थी। फिर उसी में घुल गईं आसमान

की अनन्त नीलाहटें...चुन्नी भर रेशम...ऊंची एड़ी की सैंडिलों की खट्खट्... बालों में जड़ाऊ क्लिप की कसावट...गाल गुदगुदाते बुंदों की लटकन...।

पत्ता भर शहतूत, कटोरी भर खीर, आईना भर चाव...झूला भर गीत... यायावरी की ललक में जम्मू से लाहौर तक रेलगाड़ी की छुक...छुक...।

मुग्ध किये जाती हैं कभी बीते लम्हों की बजती घंटियां ही घंटियां...एक अल्हड़ तरल संगीत...और अब आराम कुर्सी पर बैठी हुई यह उम्र...।

चाय का प्याला...अखबार...टी० वी०...किताबें...। आंगन में गमलों के पौधों पर पानी की सुहार गिराते हुए भीतर कहीं सार्थक जीवन जीने का गर्व जागता है।

बहिरंग

ज्योतीश्वर पथिक

इस शताब्दी का चौथा एवं पांचवां दशक जम्मू में साहित्यिक चेतना के लिये काफी महत्त्वपूर्ण रहा है। इस अवधि में जहां हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिये काफी जोश पाया जाता था वहां हिन्दी को इसका उचित स्थान दिलाने के लिये काफी संघर्ष भी करना पड़ा। यह सारा घटनाक्रम उस समय शुरू हुआ जब स्वर्गीय श्री गोपालास्वामी आयंगर राज्य के प्रधान मन्त्री थे। उस समय श्री के० जी० सम्मर्दन राज्य के शिक्षा निदेशक थे। तभी हिन्दी को उसका अधिकार दिलाने के लिए सशक्त आवाज़ उभरी। इसके हक में जनमत तैयार किया गया। इस जन चेतना आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे थे श्री रामनाथ शास्त्री, भूतपूर्व सांसद श्री धर्मचन्द्र प्रशांत' स्वर्गीय श्री बंसीलाल सूरी, स्वर्गीय लोकनाथ एडवोकेट आदि। महिला वर्ग का नेतृत्व सुश्री शकुन्तला सेठ तथा सुश्री सुशीला तुली ने किया।

"हमें महाराजा के प्रशासन के साथ काफी संघर्ष करना पड़ा तभी जाकर हिन्दी को पाठ्य क्रम में उसका उचित स्थान मिल पाया। मुझे पाठ्य-पुस्तक सलाहकार बोर्ड के सदस्य मंडल में लिया गया।" सुश्री शकुन्तला सेठ जब इस बारे में बतलाने लगती हैं तो एक अजीब सी चमक उनकी आंखों में आ जाती है—"उसी समय एक अजीब-सा उत्साह था हम लोगों में। हम महिलाओं के लिये हिन्दी साहित्य मंडल की एक अलग शाखा स्थापित की थी और इसकी अलग से बैठक हुआ करती थी।" इस नवचेतना ने बहुत सारी नई प्रतिभाओं को जन्म दिया।

68 वर्षीय सुश्री शकुन्तला सेठ जम्मू में हिन्दी भाषा एवं साहित्य के विकास का जीता जागता इतिहास प्रस्तुत करती है। ये यादों में खोई हुई कहती हैं। "जब प्रशासन के साथ हमारी लड़ाई चल रही थी तो वे लोग काफी सतर्क थे और हम निर्भीक। हमारे दिलों में कोई डर नहीं था।" वे एक घटना के बारे में बतलाती है। "मुझे श्री चन्द्रमोली शर्मा द्वारा हिन्दी के सिलसिले में

आयोजित एक बैठक में भाग लेने के लिए दिल्ली जाना पड़ा था। इससे पहले यहां पर अजायब घर[1] के प्रांगण में हिन्दी के पक्ष में बुलाई गई एक जन सभा में भी मुझे भाषण देना था। आप विश्वास कीजिए। जनसभा स्थल से रेलवे स्टेशन, यहां से दिल्ली तक सी० आई० डी० वाला छाया की तरह मेरे पीछे रहा परन्तु मेरे मन में किसी प्रकार का सन्देह नहीं था—उस समय हिन्दी के प्रति यह उत्साह भारत के स्वाधीनता संग्राम के साथ जुड़ा हुआ था। हम लोग सारे राष्ट्रीय पर्व धूमधाम से मनाया करते थे। 26 जनवरी हो या नेता जी सुभाष चन्द्र बोस का जन्म दिवस हम बहुत उत्साह के साथ ये सभी पर्व मनाते थे। इन्हीं यादों में खोई हुई वे कहती हैं—"एक बार नेता जी के जन्म दिवस के उपलक्ष्य में हमने छुट्टी मनाने का फैसला किया। निजी शैक्षणिक संस्थाओं ने तो हमारी अनुनय-विनय पर स्वेच्छा से छुट्टी की घोषणा कर दी। मगर सरकारी स्कूल की हैडमिस्ट्रेस मिस शाह नहीं मानीं। हम सभी लोग जलूस निकाल कर कच्ची छावनी में स्थित इस स्कूल की ओर चल दिये। इस भीड़ को देख कर मिस शाह ने स्कूल के सारे प्रवेश द्वार बन्द करा दिए। इस में एक लड़की कुमारी मदन और एक लड़की कुमारी संदीप रोशनदान तक चढ़ीं और इस स्कूल के प्रांगण में घुस गईं। वहां पहुंच कर उन्होंने घन्टी बजाई और छुट्टी का ऐलान कर दिया। मिस शाह काफी गुस्से में आईं और बाद मे उन्होंने भी छुट्टी की घोषणा कर दी।"

"जब नेता जी का निधन हुआ तो हमें यों महसूस होता था जैसे हमारा कोई अपना चला गया हो।" "रोटी और गऊ आन्दोलनों[2] में यहां की महिलाएं कच्ची छावनी में धरना देकर बढ़ती हुई कीमतों और गऊ वध के खिलाफ अपनी आवाज उठाया करतीं।"

सुश्री शकुन्लता सेठ को हिन्दी के साथ अथाह प्रेम है। उन्होंने अपना समूचा जीवन हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार में व्यतीत किया है। वे कहती हैं "मैंने पूरे सात साल तक अंग्रेज़ी पढ़ी, परन्तु हिन्दी के प्रति मुझे गहरी निष्ठा थी।" उन्होंने संस्कृत एवं हिन्दी में उच्च शिक्षा प्राप्त की है। महिला विद्यापीठ दो कमरों में शुरू किया। जहां हिन्दी एवं संस्कृत की शिक्षा दी जाती थी। रत्न, भूषण, प्रभाकर एवं प्राज्ञ आदि के पाठ्यक्रम शुरू किये गए और सैंकड़ों की संख्या में विद्यार्थी स्कूल से पढ़ कर निकले। अब विद्यापीठ में सभी

---

1. आज का विधान मण्डल प्रांगण।
2. 26 जनवरी 1930 को सम्पूर्ण आज़ादी की घोषणा लाहौर में रावी नदी के किनारे की गई।

विषयों में शिक्षा दी जाती है और यह बीस कमरों के विशाल प्रांगण में फैला एक प्रतिष्ठित हाई स्कूल है। वे कहती हैं, "जब तक मैं काम कर सकती हूं तब तक किसी न किसी रूप में स्कूल के साथ जुड़ी रहूंगी।"

सुश्री शकुन्तला सेठ को राज्य की पहली महिला पत्रकार होने का गौरव प्राप्त रहा है।' साहित्य जगत में स्वर्गीय प्रेमचन्द द्वारा सम्पादित पत्रिका 'सरस्वती' एवं 'विशाल भारत' ने काफी धूम मचाई थी। इन पत्रिकाओं से प्रेरणा पाकर शकुन्तला सेठ ने 1942-43 ई० में 'उषा' का प्रकाशन शुरू किया। उस समय यहां लेखन एवं चिन्तन की एक नई पुकार थी। जहां उन्होंने 'निराला' एवं पंत, महादेवी वर्मा एवं अन्य जाने माने साहित्यकारों की रचनाओं को अपनी पत्रिका में स्थान दिया वहां उदीयमान लेखकों की रचनाएं भी प्रकाशित कीं। इस पत्रिका के प्रकाशन के साथ ही स्थानीय लेखकों में एक नया उत्साह आया क्योंकि उन्होंने प्रचार एवं प्रसार का माध्यम मिल गया। दीनूभाई पन्त, कुमारी सुशीला तुली, मधुकर देवी और न जाने कितने ही नए नाम सामने आये जिन्होंने हिन्दी साहित्य की ज्योति को प्रज्वलित किया। 'उषा' के कुछ ही समय बाद कुमारी शांता भारती ने 'भारती' का प्रकाशन आरम्भ किया। उन्होंने तो इस पत्रिका के मुद्रण के लिए भारती प्रैस लगा दिया। अतः 'उषा' एवं 'भारती' दोनों पत्रिकाओं ने यहां के साहित्य जगत में अपना सिक्का जमाया। उषा 1946 ई० में बन्द हो गई और 1947 के लगभग भारती का प्रकाशन भी बन्द हो गया।

जब सुश्री सेठ से प्रश्न किया गया कि उन्होंने उषा का प्रकाशन बन्द क्यों किया तो कहने लगीं—"उस समय सामाजिक व्यवस्था ही ऐसी थी कि महिला चाहे कितनी ही साहसी एवं दिलेर क्यों न हो अकेले चल नहीं सकती थी। फिर पत्रिका के प्रकाशन के लिए विज्ञापनों पर निर्भर रहना पड़ता है। इसके लिए बड़े-बड़े व्यापारिक घरानों के साथ सम्बन्ध रखना अनिवार्य है और यह सब एक महिला के बस की बात नहीं थी।" मैंने प्रबन्ध इत्यादि की व्यवस्था के

---

2. श्री धर्मचन्द प्रशांत ने एक साक्षात्कार में दावा किया कि किसी महिला द्वारा प्रकाशित 'भारती' पहली पत्रिका है। उनके अनुसार 'भारती' का प्रकाशन 1940 में शुरू हुआ यह एक साप्ताहिक समाचार-पत्र के रूप में प्रकाशित होती थी। इसमें साहित्यिक सामग्री भी काफी हुआ करती थी। उषा का प्रकाशन विशुद्ध साहित्यिक पत्रिका के रूप में हुआ। 1946 में उषा का प्रकाशन रुक गया और 1947 में 'भारती' दैनिक समाचार-पत्र के रूप में प्रकाशित होती रही।

लिए श्री अयोध्यानाथ 'वीर' का सहयोग भी लिया परन्तु यह सब चल नहीं सका अतः हमें इस पत्रिका को बन्द करना पड़ा।"

सुश्री सेठ ने बताया कि शुरू में 'उषा' का प्रकाशन महिला विद्यापीठ की मुख पत्रिका के रूप में किया। परन्तु शीघ्र ही इसने एक सुन्दर साहित्यिक पत्रिका का रूप ले लिया। इसने जम्मू प्रदेश ही नहीं बल्कि समूचे भारत में लोकप्रियता प्राप्त कर ली। उन्होंने कहा—"हम इस पत्रिका की सर्क्युलेशन के बारे में हज़ारों प्रतियों का दावा तो नहीं कर सकते मगर सैंकड़ों प्रतियां तो छपा ही करती थीं।" उस समय किसी पत्रिका की यह सर्क्युलेशन एक वहुत बड़ी उपलब्धि थी।

अपने पत्रकारिता के अनुभवों को बताते हुए उन्होंने बताया कि उन्हें दो एक बार श्रीनगर में आल इण्डिया अडीटर्स कान्फ्रैंस के अधिवेशनों में भाग लेने का अवसर मिला जहां समूचे देश के पत्रकार जमा हुए। एक अधिवेशन की अध्यक्षता प्रख्यात पत्रकार श्री तुषार कांति घोष ने की थी। कुछ समय पूर्व यहां के एक अंग्रेज़ी दैनिक 'कश्मीर टाईम्स' में 1943 में हुए एक पत्रकार सम्मेलन का लेखा-जोखा छपा था जिसे तत्कालीन प्रधान मन्त्री श्री बी० एन० राव ने सम्बोधित किया था। इसमें उस समय के सभी पत्रकारों द्वारा पूछे गए प्रश्नों का व्योरा था। सुश्री सेठ ने इस अवसर पर महिला कल्याण के बारे में मुद्दा उठाया था। इस पत्रकार सम्मेलन की कार्यवाही श्री मुल्कराज सराफ ने अपने समाचार पत्र 'रणवीर' में प्रकाशित की। यह जम्मू-कश्मीर का प्रायः पहला समाचार पत्र था।

सुश्री शकुंतला सेठ यहां की संचेतनात्मक एवं बौद्धिक गतिविधियों के साथ गहरे तौर पर जुड़ी रही हैं। न केवल हिन्दी साहित्य मंडल एवं पठन-पाठन बल्कि अध्ययन एवं मनन का भी उनके जीवन में गहरा दखल रहा है। 1945-46 के आस-पास उन्होंने अनुशीलन समितियों का गठन किया जो अपनी बैठकों में राष्ट्रीय समस्याओं पर खुलकर चर्चा करती थीं। ये समितियां दो वर्गों में बंटी हुई थीं। पहले वर्ग में छोटी अवस्था की महिलाएं और दूसरे वर्ग में प्रौढ़ महिलाएं थीं। इन दोनों वर्गों की अलग-अलग बैठकें होतीं एवं सामाजिक कुरीतियों एवं अन्य पहलुओं को लेकर खुलकर बातचीत होती। अनुशीलन समितियों की बैठकें 1947 में भी होती रहीं। इन दिनों होने वाले हृदय-विदारक अमानवीय कांडों में उनके मन-मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव छोड़ा है।

"एक दिन कर्फ्यू में जरा ढील मिली थी। हम लोग दरबारगढ़ अनुशीलन समिति की बैठक के लिये जा रहे थे कि एक सहमी हुई धोबी औरत पर नज़र पड़ी। उसकी आंखों में मौत का भय झलक रहा था। अभी हम कुछ ही कदम आगे हुए कि एक चीख सुनाई दी। किसी ने उस औरत को मौत की नींद सुला दिया था।

देश के विभाजन के परिणाम स्वरूप बहुत सारे शरणार्थी जम्मू में आ गए थे। राज सरकार एवं अन्य स्वय-सेवी संस्थाओं ने व्यापक रूप से राहत कार्य शुरू किये थे। इन कार्यों में अनुशीलन समितियों ने भारी योगदान दिया और राहत कार्यों में हाथ बटाया। कबायली हमले के परिणामस्वरूप नागरिकों को सैनिक प्रशिक्षण दिया गया। इस मोर्चे पर महिलाएं भी पीछे नहीं रही। उन्होंने बताया कि मैंने भी उन महिलाओं के साथ सतवारी (जम्मू कैंट) में सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त किया। "एक बार प्रशिक्षण शिविर में भारत के पहले सेवा अध्यक्ष जनरल के० एम० करियप्पा आए। उन्होंने हम से पूछा,—"तुम मिलिट्री ट्रेनिंग क्यों कर रही हो?"

"देश की रक्षा के लिये।" मैंने उत्तर दिया

"मगर लड़ाई तो फौज का काम है?" करियप्पा ने कहा।

मैंने उत्तर दिया—"ठीक है! पर लड़ाई आंतरिक मुहाज़ पर भी लड़ी जाती है। हम अंदरूनी मुहाज़ लड़ेंगी।"

जनरल करियप्पा इस उत्तर से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने शाबाशी में हमारी पीठ थबथपाई।

शकुंतला सेठ एक प्रतिष्ठित नाम है। उनकी कविताएं देश प्रेम की भावनाओं से ओत-प्रीत होती हैं। उनकी कविताओं के कुछ संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उन्हें आज की कविता पसंद नहीं, जिस में सुर ताल एवं लय का अभाव होता है। रेडियो कश्मीर जम्मू की स्थापना के समय से ही वे इसके साथ सम्बद्ध रही हैं। अनेकों अखिल भारतीय कवि-सम्मेलनों में भाग लेकर उन्होंने श्रोताओं को प्रभावित किया है। उन्हें देश प्रेम की भावनाओं से ओत-प्रोत कविताएं काफी पसंद है। महादेवी वर्मा ने उन्हें काफी प्रभावित किया है। उनका अपना जीवन भी महादेवी जी के जीवन की झलक देता है। अपने भाषणों में सुभद्रा कुमारी चौहान, माखन लाल चतुर्वेदी, पंत, निराला, बालकृष्ण वर्मा 'नवीन', मैथिली शरण गुप्त एवं अन्य कवियों की रचनाओं के सरस उद्धरण दिया करती हैं। साहित्यिक विषयों पर उनकी मजबूत पकड़ है। एक विषग पर वे लगातार घंटों बोल सकती है और श्रोता मंत्र-मुग्ध होकर सुनते रहते हैं।

सुश्री सेठ बाल साहित्य लेखने में रुचि रखती हैं। उनका कहना है कि अब मैं बच्चों के लिये साहित्य लिखूंगी और ये रचनाएं पौराणिक कथाओं पर आधारित होंगी।

जीवन की जटिल परिस्थितियों के साथ सुश्री शकुंतला सेठ ने अकेले ही जूझा है। उनका दावा है कि सभी परिस्थितियों का उन्होंने डट कर सामना

किया है। उन्होंने कभी महसूस नहीं किया कि महिला होने के कारण मैं कमज़ोर हूं—वल्कि वे स्त्री को शक्ति का महान स्त्रोत मानती हैं।

शकुंतला सेठ ने शादी नहीं की। इसका कारण बताते हुए उन्होंने अपनी बहन के चित्र की ओर इशारा किया। उन्हौंने बताया कि यह बहन अपंग थी और विवाहोपरांत इसकी जिम्मेदारी निभाना मेरे लिये असंभव था। यह भी हो सकता है कि मैं अपने लिये कोई ऐसा जीवन साथी चुनती जो मेरे साथ इस जिम्मेदारी को बांट सकता, परन्तु मैं यह जिम्मेदारी ससुराल तक नहीं ले जाना चाहती थी क्योंकि यह बात मेरे स्वाभिमान के प्रतिकूल थी।

उनकी इस बहन का कुछ ही वर्ष पहले निधन हुआ है। वे अपनी इस बहन की जुदाई का दर्द अवश्य महसूस करती हैं। वे कहा करती हैं—"मैंने इस बहन के साथ अपना हर सुख अपना हर दुःख बांटा है। जब कभी मैं खुश होती या स्कूल में कोई साधारण घटना होती तो मैं ये सभी बातें अपनी इस बहन को बताया करती—मगर अब दुःख बांटने वाला कोई नहीं।"

"क्या इस उम्र में आप स्वयं को अकेली महसूस करती हैं ?"

बिलकुल नहीं ! उन्होंने कहा—"मेरे आस पास के लोग मेरा बहुत आदर करते हैं। ये हर तरह से देख-भाल करते हैं। मुझे किसी प्रकार का कष्ट या असुविधा नहीं होने देते।"

"मैंने भरपूर जीवन जिया है और डट कर जिया मुझे इस बात की खुशी है।"

वे निम्नलिखित सम्मान भी पा चुकी हैं।

हिन्दी साहित्य मंडल, जम्मू : हिन्दी सेवा सम्मान 1986
ज्ञान देवी जमना देवी ट्रस्ट ; लाला मुलख राज अवार्ड 1989
नव जम्मू : पत्रकारिता सम्मान : 1992
हिन्दी पत्रकार संघ जम्मू : पत्रकार सम्मान 1994



अन्तरंग

पृथ्वी नाथ मधुप

बचपन से ही खान-पान, वात्सल्य-दुलार, हवा,धूप के साथ जो मिला वह था—रामायण के श्लोक, मानस की चौपाइयां, ललद्यद के वाख, परमानन्द तथा अपने पिता, पण्डित नीलकण्ठ शर्मा आदि की कविताएं। हर क्षण यही लगा कि सांस कविता है, कविता सांस। दिन, मास, वर्ष के सोपान चढ़ते यही एहसास गहरा होता गया कि कविता ज़िन्दगी है, ज़िन्दगी कविता।

पिता जा के पास जो कि स्वयं एक प्रबुद्ध चिंतक और कवि थे। दूर के अनेक काव्य-प्रेमी जन उनकी कविता सुनने-पढ़ने के लिए अक्सर आते। इस प्रकार घर में कविता का वातावरण बना रहता। पिता जी की अभिव्यक्ति का मुख्य माध्यम यद्यपि कश्मीरी भाषा ही थी पर वे यदा कदा संस्कृत तथा हिन्दी में भी पद्य रचना करते थे।

परिवेश और संस्कार ने मुझे भी, हाई स्कूल तक आते-आते, लिखने की प्रेरणा दी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद मैंने अपने घर और बाहर के लोगों को यह चर्चा करते सुना था कि स्वतन्त्र भारत में अब अंग्रेज़ी का भविष्य अच्छा नहीं, इस भाषा का वर्चस्व अब नहीं रहेगा। इस भाषा का स्थान अब राष्ट्र-भाषा हिन्दी लेने वाली है।

हाई स्कूल पास कर लेने पर मैंने श्री प्रताप कालेज श्रीनगर, में एफ० एस० सी० में प्रवेश लिया। इस महाविद्यालय से 'प्रताप' नामक एक बहुभाषी-वार्षिक पत्रिका निकलती थी। 'प्रताप' के हिन्दी अनुभाग में ही मेरा एक गद्यगीत, 'तुम कहां हो ?' नाम से, छपा। यही मेरी पहली प्रकाशित रचना है। कॉलेज में हिन्दी मेरा वैकल्पिक विषय था। जो प्रोफैसर साहब हमें यह विषय पढ़ाते थे उनके पढ़ाने की विधि अद्भुत थी। जो भी पढ़ाते उसमें विचित्र तल्लीनता जगती। इसी कारण फिर मेरी रुचि संस्कृत में बढ़ गई।

हिन्दी के प्रति रुचि होने के नाते मेरा सम्पर्क हिन्दी प्रचारिणी सभा से हुआ। यहीं मैं श्री मोती लाल क्यमु तथा श्री शशिशेखर से मिला। बाद में कई मित्रों ने कश्मीर हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना की। इसकी साहित्यिक बैठकों में मैं कुछ काल तक नियमित रूप से भाग लेता रहा। यहीं पर श्री मोहन निराश, श्री हरि कृष्ण कौल, श्री चमन लाल सप्रू और बाद में श्री रत्नलाल शान्त से परिचय हुआ। मोहन निराश तथा शशि शेखर अक्सर मिलते रहते और अपनी-अपनी रचनाएं सुनाते। कश्मीर हिन्दी साहित्य सम्मेलन, श्रीनगर की कार्यकारिणी द्वारा प्रकाशित कविता चिन्तन के चार कवियों की कुसुम की प्रतिनिधि कविताओं में से मैंने अरनिमाल के एक प्रसिद्ध विरहगीत 'म्ये शोकुं यारु सुन्दि बये मसप्याल तुं...' का अनुवाद किया था। स्थापना के कई वर्ष बाद सम्मेलन ने 'कश्यप' नाम से एक मासिक हिन्दी पत्रिका भी निकाली थी। इस पत्रिका में भी मेरी कुछेक रचनाएं छपी हैं। तभी सम्मेलन ने कश्मीर में हिन्दी लेखकों-कवियों का एक दल तैयार किया था।

कल्चरल अकादमी प्राय: अकादमी के लाल मण्डी (श्रीनगर) स्थित कार्यालय में विभिन्न भाषाओं के साहित्यकारों की बैठकें होती थीं। उन्हीं दिनों मेरा परिचय प्रोफैसर सुभाष भारद्वाज और श्री चन्द्रकान्त जोशी से हुआ।

जब राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति, वर्धा का रजत जयन्ती समारोह वर्धा में मनाया गया तो मुझे इन समारोहों में, एक अन्य सहयोगी, के साथ जम्मू-कश्मीर राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति, श्रीनगर, के प्रतिनिधित्व का सौभाग्य मिला। समिति के एक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन 'रजत जयन्ती ग्रंथ' में मेरा एक विस्तृत एवं गवेषणात्मक आलेख 'कश्मीर की हिन्दी को देन' छपा। समिति ने कवि-श्रीमाला सीरीज के अन्तर्गत मेरा अनुवाद भी छापा। कश्मीरी कवि परमनन्द की की कविताओं 'कवि-श्रीमाला : परमानन्द' नाम से प्रकाशित किया।

1958 में मेरा विवाह सुप्रसिद्ध समाज सेवी प्रो० श्याम सुन्दर हण्डू की सुपुत्री से हो गया। सुशील, सुसंस्कृत पत्नी शान्ता ने जीवन में मुझे भरपूर सहयोग दिया। मेरे लेखन को सराहा और प्रेरित किया 'वे मेरे अभावों में रूखी रोटी में नमक और छीजी चादर में तुरपन की तरह मेरे सार बनी रही है।

हमारी तीन बेटियां हैं। नीरजा, कंचन, चंचला। पुत्र का अभाव कभी नहीं खोला। दोनों बड़ी बेटियों का विवाह कर चुका हूं। छोटी अभी छोटी है।

अवकाश प्राप्त कर चुका हूं। अब फुरसत में लेखन मे जुड़े रह कर कुछ करना चाहता हूं। फिलहाल कश्मीर की विशिष्टताओं पर आधारित एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखने में लगा हूं।

केन्द्रीय विद्यालय की नौकरी के कारण...घाट-घाट का पानी पिया और

बनजारापन जिया। पर...न अपने कश्मीर जैसी बर्फ की ठंडी धवलता न चिनार सी घनी छांव नसीब हुई।

विस्थापन की पीड़ा यात्रा में अपने दूसरे साथियों की तरह जब मेरा हाथ भी अपने लहु लुहान पैरों पर चला जाता है तो अपने पर दया हो आती है। बसन्त में फूले शगूफे, शिवरात्रि का उत्सव, मिट्टी के पूजा कलश में भीगे अखरोटों का प्रसाद, मां के हाथ का बना पीला भात (वरि) और अपने घर की 'छत' याद आते ही भीतर कहीं गहरे दंशित हो उठता हूं।

चूल्हे पर खौलते पानी में...धुले कड़म साग के हरे पत्ते डालती शांता गीले पल्लू से हाथ पोंछती चौकी से उठ पड़ती है...।

कैलेंडर के पन्ने उलटते हुए कहती है..."सुनो, अमरनाथ यात्रा की छड़ी मुबारक जाने को कितने दिन बाकी हैं...?

क्या...हम

इस साल...साल भी..."।

मैं उसकी बात अनसुनी करते हुए पांव फैला कर चेहरा अखबार में छिपा लेता हूं।

□

बहिरंग

डॉ० निज़ामुद्दीन

जम्मू-कश्मीर के सुपरिचित, प्रतिष्ठित हिन्दी कवि पृथ्वी नाथ मधुप मझोला भरा कद, मृदुभाषी, साफ स्पष्ट तथा सन्तुलित कहने वाले, अध्ययनशील, बहुभाषाविद्, हिन्दी भाषा-साहित्य के प्रसार-प्रचार में दत्तचित, हिन्दी के समर्पित साहित्यकार हैं। एक रचनाकार के रूप में उनके अब तक चार कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—

वे मुखर क्षण (1965)
खोया चेहरा (1973)
खुली आंख की दास्तान (1986)
बबूल के साये में मोगरा (1992)

मधुप जी का व्यक्तित्व संघर्षरत रहा है, जीवन में भी और साहित्य में भी। 'बबूल के साये में मोगरा' संग्रह की प्रथम कविता इसकी साक्षी है। लेकिन वह हताश-निराश होना नहीं जानता। जीवन के उग्र संघर्षों से वह जूझता रहा लेकिन अपने अटल विश्वास तथा अदम्य साहस तथा, धैर्य के साथ अपनी मंज़िलें तय करता रहा। कई बार छिदा, बिंधा, तड़पा-कराहा मगर क्या मजाल कि पेशानी पर ज़रा भी शिकन पड़ी हो, फिर भी

महक भेजता रहा
झकोरों द्वारा
बबूल के साये में
मोगरा !

जो व्यक्ति रोजी-रोटी की तलाश में अपने को बराबर खपाता रहा हो, जिस का शरीर भी अब हार मानने लगा हो, पारिवारिक दायित्वों का भार निरन्तर दोगुना-चोगुना बढ़ता जा रहा हो यदि वह व्यक्ति मंद मुस्कान बिखेरता सब कुछ सहता-भोगता आगे और आगे कदम बढ़ाता जाए तो समझिए वह किस

जीवट का होगा। ऐसे में लेखन के प्रति आस्थावान, प्रतिबद्ध भी बने रहना अपने में एक उपलब्धि है। कश्मीरी भाषी होकर उनका हिन्दी साहित्य में उच्च शिक्षा प्राप्त कर, अध्यापन में जुड़कर हिन्दी की सेवा करना श्लाघ्य है। कई बार उन्हें सुना है, नज़दीक से देखने का मौका मिला है। यह सब 1963 से चलता आ रहा है। उन्होंने एक लम्बी रचना-यात्रा तय की है जिसमें उनके चार कविता-संग्रह हिन्दी जगत के सामने आए हैं। कई पत्रिकाओं-पुस्तकों का सम्पादन भी किया है। उन्होंने कश्मीरी कवि परमानन्द के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर एक पुस्तक लिखी। कश्मीरी लोकगीतों का हिन्दी में पद्यात्मक भाषान्तर "वाणी वितस्ता की" के शीर्षक से किया है। वे जम्मू-कश्मीर राष्ट्रभाषा प्रचार समिति श्रीनगर के सक्रिय सदस्य रहे और इस अहिन्दी भाषी प्रदेश में राष्ट्रभाषा के प्रचार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया ' रेडियो कश्मीर, (श्रीनगर व जम्मू केन्द्रों से) से कविताएं प्रसारित करते रहे हैं। ये उनके रचनाशील व्यक्तित्व के कुछ प्रमुख पहलू हैं। जब उनके संघर्षरत जीवन का सिंहावलोकन करता हूं तो उसकी परछाई कवि की रचनाओं में यत्र-तत्र देखने को मिल जाती है। 'बबूल के साये में मोगरा' की प्रथम कविता को ही देखिए—ज़िदगी के कांटे उन्हें भी बार-बार चुभे, वह छिदा, बिंधा कांपा और कराहा पर अपनी महक बिखेरना नहीं छोड़ा—

ऐसा नहीं कि
कांटों की चुभन का
एहसास नहीं हुआ

कई बार—छिदा/बिंधी चेतना/कांपा/कराहा—
फिर भी
महक भेजता रहा
झकोरों द्वारा
बबूल के साये में/मोगरा।

पौरुष सफलता की सीढ़ी है, इसके बिना मनुष्य जीवन की कठिनाइयों को झेलकर आगे नहीं बढ़ सकता। आशा को हाथ से न जाने देना भी संघर्षमय जीवन का एक उज्ज्वल रूप है। जीवन में, औज्वल्य तभी आता है। राजस्थानी कहावत है—

कांच कथीर अधीर नर, कस्यां न उपजै प्रेम।
कसनी तो धीरा सहै, कै हीरा कै हेम॥

कवि को मालूम है कि कश्मीर घाटी बारूदी धुएं से भरी है। संगीनों के घने काले भयानक साए बढ़ रहे हैं और उनका अन्त होना सम्भव नहीं लगता।

उसे आशा है—

> वह दिन आएगा
> जो अपने कंधों पर
> खुशबू, हरियाली
> व भोर-किरणों के खेप
> ज़रूर लायेगा

आज तो चिनारों के साये उदास हैं। सैलानियों की गहमागहमी वे देख नहीं पा रहे। उनकी शीतल छाया में नवविवाहिता जोड़े कहीं नहीं बैठते, लेकिन चिनार को आशा है कि जो लोग उनके साथ छेड़छाड़ कर रहे हैं वे भी एक दिन उसकी छाया में आकर बैठेंगे। चिनार का सांकेतिक प्रयोग भी वहां किया गया है, घाटी के गुमराह सशस्त्र नवयुवक मानो उस चिनार के पत्ते हैं। जो उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रच उसे नष्ट करने पर उतारू हैं। कश्मीरी जन जीवन में रचा-बसा कवि कश्मीर के 'राजवृक्ष चिनार' को कभी विस्मृत नहीं कर सकता और यह कश्मीर का वैभव है, उसकी शोभा उसके बिना तो उस प्राकृतिक सुषमा की परिकल्पना भी नहीं की जा सकती। कवि ने चिनार विषयक कई कविताएं रची हैं। 'चिनार' (पृ० 104-106) में प्रकृति की नैसर्गिकता का चित्रांकन है। बर्फीले मौसम में चिनार बिना पत्तों के शोभाहीन हो जाता है लेकिन खुशियां तब लौटती हैं जब वसंतागमन पर उसमें पल्लव फूटते हैं। 'स्थगित' में घरेलू स्थिति का, क्षणों का रेखांकन है जब बच्चों को इस इतवार को नहीं, अगले इतवार को निशात, शालिमार बाग में ले जाने का बहाना तलाशा गया है। 'पत्ते' में चिनार की नवल अर्थवत्ता भरी है; यहां चिनार—चि+नार=चिनार (यह कैसी आग) के हरे-पीले-लाल होते पत्तों का कश्मीरी जीवन परिवेश में बहुत महत्त्व है। सूखे पत्ते भी कोयले के रूप में कांगड़ियों में जल कर यहां के जन-जीवन को शीत ऋतु में सुखद ऊष्मा प्रदान करते हैं। ये रंग बदलते पत्ते पतझड़ में अपना एक महत्त्व रखते हैं, उन्हीं को देखने श्रीमती इन्दिरा गांधी 27-28 अक्तूबर को कश्मीर आयी थीं। 'पत्ते' में कवि ने चिनार को जो नवीन अर्थ-गाम्भीर्य प्रदान किया है उसे देखकर अल्लामा इकबाल का यह शेर याद आता है—

> जिस खाक के जमीर में है आतिशे-चिनार
> मुमकिन नहीं कि सर्द हो वो खाके-अर्जुमन्द

जहां तक घाटी की अशांत स्थिति का सम्बन्ध है उसकी त्रासदी को वहां

1. बहुत उदास है। चिनार की घनी छाया/पत्ते षड्यन्त्र रच रहे/जड़ों को उखाड़ने का। (पृ० 80)—'बबूल के साये में मोगरा'।

को जन-जन भोग रहा है और जो भयाक्रान्त होकर वहां से पलायन कर आये उनकी एक-एक सांस कराहती है अपने घर वतन लौटने को। कैसी बिडम्बना है विश्व के सबसे बड़े लोकतन्त्र में यह आतंकवादी संस्कृति। इस उग्रवाद, अलगाववाद को कवि ने अन्तस्तल की गहराई से महसूस किया है। 'अब जायें कहां ?' कविता वर्तमान त्रासदी को सुचारू रूप से बिम्बित करती है। हवाएं खुशबू नहीं, घुटन बांटती हैं चारों ओर धुआं उठ रहा है—एक उन्माद-सा छाया है सर्वत्र चिनार, झील डल, वितस्ता नदी, निशात-शालिमार बाग, पहलगाम-गुलमर्ग जल रहे हैं। विरासत में पालित-पोषित प्यार, मिलनसार, एकता, भाईचारे के भाव अब कहीं खो गए, वे घाव क्यों बन गए, यही सोचकर आज प्रत्येक मन व्यथित है। पृ० (98-99) बुलबुल-कोयल, बाज और गिद्ध बन गये हैं, रंग-खुशबू बारूद बन गई है।

मधुप भले ही स्वभाव से तूष्णीक या स्वल्पभाषी हों, लेकिन उनकी कविताएं बहुत मुखरित हैं, वाचाल हैं, भावभंगिमा से परिपूर्ण हैं। घर में 'लटके लैण्डस्केप' को देखकर जो भावस्थिति उत्पन्न होती है उसे शब्दायित करने का कौशल दर्शनीय है। दूसरी ओर रोज़ी-रोटी का प्रश्न जुड़ा हो वहां आदमी का ज़मीर (खुदी) शिथिला जाता है। घर-परिवार से पृथक् दूर-दराज़ इलाके में यदि कोई नौकरी करता हो तो उसके 'माई-बाप' कौन होंगे, यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है और जो 'कौम का मेमार' हो, यानी अध्यापक तो उसकी दैन्य स्थिति से तो बस सहानुभूति ही हो सकती है यह कविता तीव्र व्यंग्यदंश अपने में समाहित किए है ठकुर सुहाती भरी यह कविता यथार्थ को पकड़ने में सशक्त है। (पृ० 20-23) एक वैसी ही व्यंगोक्ति 'ताज' में देखी जा सकती है। दूधिया-चांदनी से स्नात 'ताज' की रूपता नहीं, कुरूपता को यहां उकेरा गया है। 'हत्या की काली शहादत' है यह ताज ![1] कविवर सुमित्रानन्द ने 'ताज' को शव-पूजन कहकर उसकी भर्त्सना की है। उधर साम्यवादी विचारधारा के उत्कृष्ट कवि फैज़ ने 'गरीबों की मोहब्बत का मज़ाक' कहा है। मधुप जी ने सत्तालोलुपता का बेबाकी से ताज की पृष्ठभूमि में वर्णन किया है। जहां बाप को बेटा कैद कराता है, भाई भाई का कत्ल करा देता है। पैतृक सत्ता-सम्पत्ति में यही सबसे बड़ा करिश्मा है। जो कवि को ताज संगमरमर की गुदाज अंगड़ाई पर लिखी कविता नहीं लगता, वरन् दुग्ध धवल वेश में 'हत्या की काली शहादत' नज़र आता है। यह कल्पना मौलिक तथा रचनात्मक है। कीट्स की कल्पना के विषय में समीचीन उक्ति है—

---

1. खुली आंख की दासतान, पृ० 64-65

"कल्पना एक ऐसी शक्ति है जो सृजन एवं विवृत्ति दोनों क्षेत्रों में सक्षम है, अधिक समीचीन तो यह कहना होगा कि वह सृजन से ही विवृत्त होती है।" मधुप जी की कल्पना भी इसी प्रकार की है।

लेविस का कहना है कि "काव्य के अनन्त प्रवाही शिल्प व विधा के मध्य जो स्थिर व ध्रुव है, वह बिम्ब है। काव्य के क्षेत्र में युगधाराएं आती हैं और जाती हैं, छन्द के फैशन पुराने पड़ जाते हैं, यहां तक कि काव्य का कथ्य बदल सकता है—इस सीमा तक कि मूल्य में पहचाना भी न जा सके, पर रूपक (बिम्ब) अडिग रहता है—यही कविता का प्राण तत्व है, इसी के निकष पर कवि की परख होती है और यही उसकी गरिमा का निर्णायक है।' एज़रा पाउण्ड ने बिम्ब के महत्व को दर्शाते हुए कहा है कि जीवन में अनेक पुस्तकें लिखने की अपेक्षा एक सफल बिम्ब की रचना करना अधिक महत्व रखता है। मधुप जी ने अपनी कविता में अच्छे बिम्बों का चित्रांकन किया है। बिम्ब एक प्रकार का शब्द-चित्र है, यहां शब्द बोलते हैं, भाव ध्वनि तथा रंग दोनों ग्रहण करते हैं। पंत जी ने इसीलिए बिम्ब विशेषता चित्रात्मक मानी है। रूप, रस, गंध, श्रवण, स्पर्श बिम्बों का वर्गीकरण भी एन्द्रिय-विषयों के आधार पर किया गया है। अन्य आधारों पर भी बिम्बों को वर्गीकृत किया गया है—सरल बिम्ब (Simple Image), अव्यवहृत बिम्ब (Immediate image), विशृंखलित बिम्ब (diffused image), निराकार बिम्ब (Abstract Image), रूपात्मक बिम्ब (Alegorical Image) आदि। मधुप जी की बिम्ब-योजना अनेक भाव-भंगियाओं एवं संवेदनाओं से परिपूर्ण है—एक चित्र देखिए—

"चुप/पथराए भुतहे-से/चीड़ की फुनगी पर/ठिठुर-सी/अकेली चिड़िया/नीरव-निस्पन्द। फुर्र/आसमान की ऊंचाई पर/निमिष में/नजारों की हद से/बिल्कुल बाहर।" चाक्षुष बिम्ब का, एक स्थिति का सटीक चित्रण अति मोहक है। "तार-तार तम्बू के भुरभुराये खूंटे को मौसम की मार से बुढ़ा/रस्सी की पकड़-सा/वह खड़ा।"[2] मदर टैरेसा का व्यक्तित्व सार्वभौम है। वह ममत्व की चलती-फिरती प्रतिमा है। उत्सर्ग की, मानव-सेवा की साकार मूर्ति है। उसके लिए जो उपमान, रूपक, चित्र कवि ने तराशे हैं उसमें सृजनात्मक प्रतिभा स्वतः अभिमुखरित है। ग्रीष्म में तपते मरुस्थल से फूटता जल-स्रोत, राहत और संजीवनी-स्पर्श, हिमालयी व्यक्तित्व, रिसते व्रण पर सकून का फाहा, प्यार की पराकाष्ठा जगदम्बा के ही तो रूप-चित्र हैं।

---

1. बबूल के साये में मोगरा, पृ० 75-76,
2. ,, ,, पृ० 89
3. ,, ,, पृ० 16-17

वर्तमान जीवन की विसंगतियों पर कवि ने सूक्ष्म दृष्टि डाली है। समाज की विद्रूपताएं, आडम्बर, व खोखले जीवन-मूल्यों से सूखता जीवन सब कुछ उनकी नजरों में रहा है। 8 मार्च को प्रतिवर्ष "विश्व महिला वर्ष" मनाया जाता है। महिला जागरण का यह एक वार्षिक पर्व कहा जाना चाहिए। लेकिन यह अपने मंतव्य-गंतव्य में लुंजपुंज है। 'उत्सव ही रह गया है—नूतन वेश कीमती रेशमी साड़ियों में परिवेष्टित महिलाएं आकर्षण का केन्द्र जरूर बन जाती हैं। इसे कवि ने सम्भ्रान्त कंधों पर लटका नया पर्स या इम्पोर्टेड कास्मेटिक कहा हैं। आत्म प्रवंचना और छद्म भरे जीवन का खोखलापन ही तो है यह महिला वर्ष। उसे "बांझ प्रतीक्षा" कहना न्यायोचित ही है। क्या यह विसंगति और विषमता नहीं कि जिन्होंने बंजर को, परती को उपजाऊ बनाया उन्हें तो विस्मृत कर डाला और जो कृत्रिमता की कीमयाई यूरिया डालते हैं उन्हें 'कृषिपंडित' की उपाधि प्रदान की जाती है?

मधुप जी के काव्य में पौराणिक प्रतीकों का यत्र-तत्र प्रयोग भी आधुनिक सन्दर्भों में किया गया है। कहीं राम-रावण के कथा प्रसंग, कहीं जनमजेय और तक्षक का प्रसंग है—

> फण उठा-उठा
> फुंफकार रहे हैं तक्षक
> कुर्सी-कुर्सी को
> कब्जा कर

और सांप होने की होड़ में गरुड़, मयूर, नकुल के परिवार आगे बढ़ रहे हैं। राजनीति की वर्तमान स्थिति पर व्यंग्य इससे अधिक और क्या होगा? "चिन्ता" में राम-रावण को आधुनिक परिवेश में संदर्भित किया गया है। अब रावण को सीता का अपहरण करने के लिए कुटिल वेश धारण करने की आवश्यकता नहीं, आज 'सज्जनता' का वेश धारण कर महिला-शोषण किया जाता है, आज का लक्ष्मण 'पाप म्यूजिक' सुनने में मस्त रहता है। अग्रज राम की गुहार सुनने की उसे फुरसत नहीं। 'मर्यादा-रेखा' को वह जानता ही नहीं। "आजकल जटायु मिलते ही कहां हैं" सारे जीवन-मूल्यों को तो आधुनिक संस्कृति ने ग्रास बना लिया है। उसमें आदर्श खोजना पानी पर लाठी मारना है।

---

1. खुली आंख की दासतान, पृ० 54
2. ,, ,, , ,, पृ० 47
3. बबूल के साये में मोगरा, पृ० 15

यह माना कि मधुप जी की काव्य-परिधि व्यापक है और उसमें विषय-वैविध्य है, लेकिन एक प्रकार का 'नॉस्टेलज़िया' भी यहां हांट करता नज़र आता है। जब मैदानी प्रचण्ड गर्मी या गर्म थपेड़े मारती लू से वह दो-चार होते हैं तो कश्मीर की सुखद प्रकृति-छटा उनके नेत्रों में छा जाती है, कभी अच्छा बल का फ़ाल याद आता है तो कभी निशात-शालिमार की रंगीनियों से भरी चहल-पहल, कभी डल की शान्त स्निग्ध फेनिल छाती पर तैरते शिकारे उनकी हृत्तंत्री को झंकृत कर देते हैं। वह ललद्यद और नुन्दऋषि (शेख नूरुद्दीन के 'वाखों'/'श्रुकों' को याद करने लगते हैं। इसे 'होमसिक' प्रवृत्ति नहीं कहा जा सकता, यह कवि की सहज अनुभूति है, संवेदनशीलता है। भला कहां तेज़ाबी लू और कहां निशाती गन्ध? इस दृष्टि से "फैसला", "लहराने दो पताका" आदि कविताएं दृष्टव्य हैं।

गज़ल, दोहे, मुक्तक, गीत सभी विधाओं में उन्होंने तबाआज़माई की है। गज़लों में हल्कापन झलकता है। नई कविता में प्रौढ़ता और शिल्प का सौष्ठव दर्शनीय है। गीतों का माधुर्य, लालित्य मोहक है। उनके शब्दों में मृदुलता है। और भावोद्रेक की सहज अभिव्यंजना-शैली भी। संगीत और लय का आरोह-भी है और शब्द-शिल्प की कला भी। चि+नार (कैसी आग), निशाती गन्ध, सुरभित गुलाब, छांह चिनारी, गंधाते, वृहन्नलत्व, आदि ऐसी ही शब्द-संरचना है। दोहों में विस्थापितों की पीर अधिक प्रभविष्णुता के साथ मुखरित हुई है—

(1) घर छूटे, छूटा वहीं निजपन प्यार दुलार
यहां उपेक्षा-सग मिले, कष्टों के अम्बार

(2) पंछी से ज्यों पर छिने, छिने मीन से नीर
ऐसे पल-पल जी रहे, हम विस्थापन-पीर

(कॉशुर समाचार)

अपनी बात को सुस्पष्ट तथा भाव-दीप्त बनाने के लिए कहीं-कहीं संस्कृत शब्दावली का प्रयोग भी किया है। कश्मीरी मिथकों को भी समाविष्ट किया गया है। 'रास्ता—1' में 'हारी पर्वत' और जलोद्भव का मिथकीय प्रयोग कश्मीर की संस्कृति से सम्बद्ध है। ये मिथकीय प्रयोग उनकी शैली को नवीन ऊर्जा प्रदान करते हैं। एक सुधी कवि के रूप में मधुप जी की भाषा-संरचना

---

1. खुली आंख की दासतान, पृ० 10, 51, 53

सहज संवेद्य है। श्रव्य और चाक्षुष बिम्ब ऊर्ध्ववाहू होकर अपनी सजीवता मनवाते हैं। आधुनिक जीवन-परिवेश, सामाजिक-ऐतिहासिक सन्दर्भों को उन्होंने अनुभूति की ऊष्मता प्रदान की है और यथार्थ की परतों को उघाड़ा है। कवि की रचनाशीलता के अनेक आयाम हैं और वे उनकी सर्जनात्मक मेधा को सुस्पष्ट करते हैं। मधुप जी का व्यक्तित्व जैसा सहज है वैसी ही सहज उनकी काव्यभिव्यंजना है। कश्मीरी जीवन-परिवेश के साथ नाभिनाल सम्बन्ध होते हुए भी भाव सम्पदा और शिल्प-सौन्दर्य दोनों दृष्टियों से उनकी कविता व्यापक क्षितिजों का संस्पर्शन करती है।

□

अन्तरंग

मन सा राम 'चंचल'

बड़ा कठिन है अपने बारे में कुछ कहना......कह......सकना.....।

मात्र घटना क्रम लिखते नहीं बनता और न आत्म प्रशंसा या आत्मालोचन को ही अपने प्रति न्याय कहा जा सकता है।

सोचता हूं तो अपने आप में हैरान होता हूं कि हीरा नगर के एक छोटे से गांव में पैदा हुआ व्यक्ति पत्रकारिता या लेखन के क्षेत्र में कैसे आया ? न मैंने कभी यह सोचा था, न ऐसा वातावरण ही मिला था और न मेरी शिक्षा-दीक्षा इस ढंग से हुई कि मैं इस क्षेत्र में उतर सकूं। गांव के प्राईमरी स्कूल और हीरानगर में मिडल तक पढ़ाई के बाद मैं श्री रघुनाथ संस्कृत महाविद्यालय नगर में संस्कृत पढ़ने के लिए भेज दिया गया, क्योंकि मेरे माता पिता चाहते थे कि मैं शास्त्री करने के बाद पण्डिताई का काम करुं और साथ में 'कविराज' करके चिकित्सा का काम सम्भालूं, जो हमारा पुश्तैनी धंधा था। हमारी चार पीढ़ियां यही काम करती रहीं हैं।

मैंने जम्मू से शास्त्री की परीक्षा परीक्षा की और गांव आ गया। जम्मू में रहते जिन लोगों से मेरा परिचय हुआ उन में एक थे मुकर्जी 'गुंजन' जो गुलाब पत्रिका को फिलमी रूप देने के सिलसिले में जम्मू आया करते थे। वे लाहौर से स्वयं एक पत्रिका "रूपम" चलाया करते थे। चाहे वे बंगाली थे पर हिन्दी के एक अच्छे साहित्यकार एवं पत्रकार थे।

फिर ओम प्रकाश सराफ़ से मिला। वे अपने पिता श्री मुलख राज सराफ के साथ दैनिक "रणवीर" के अलावा बच्चों की एक मासिक पत्रिका "रत्न" भी प्रकाशित किया करते थे। 'रत्न' यद्यपि उर्दु में छपता था, लेकिन वर्ष में एक बार डा० कर्ण सिंह जो उन दिनों राज कुमार थे, के जन्म दिन पर हिन्दी में विशेषांक प्रकाशित किया करते थे। इस विशेषांक के प्रकाशन का काम सराफ जी ने मुझे सौंपा। मेरे लिए सम्पादन का यह प्रथम अनुभव था।

मैंने कुछ लेख तो उर्दू से अनुवादित किए और दो लेख मेरे अपने थे। एक कविता भी मैंने डा० कर्ण सिंह पर लिखी, जो मेरी पहली कविता थी।

जम्मू से गांव जाने के बाद मेरा सम्पर्क जम्मू से कट गया, लेकिन गांव जाने के कुछ दिनों बाद मुझे श्री गुंजन का तार मिला, जिस में लाहौर पहुंचने को कहा गया था। यह मेरे जीवन का एक नया मोड़ था। मैंने पिता जी से पूछा और लाहौर पहुंच गया।

लाहौर मैंने पहले भी देखा था, लेकिन इस बार मुझे पता लगा कि लाहौर कितना बड़ा है। श्री गुंजन को देव समाज होस्टल में एक कमरा मिला था। मेरा प्रबंध भी वहीं कर दिया गया। वास्तव में श्री गुंजन के पास विभिन्न विश्वविद्यालय के परीक्षा पत्र आए थे, जिन्हें निबटाना उन के लिए कठिन था। इसी लिए मुझे बुलाया गया था। श्री गुंजन का जीवन बड़ा व्यस्त था। वे एक साथ अध्यापन, सम्पादन, लेखन आदि कई काम करते थे। फिल्म जगत में भी उनकी अच्छी जान पहचान थी। पांचोली पिकचर्ज़ में वे प्राय: जाया करते थे। कई बार मुझे भी शूटिंग दिखाने ले जाते। यह समय मेरे लिए बड़ा व्यस्त और अनुभवात्मक रहा। जब मेरा काम समाप्त हो गया तो उन्होंने मुझ से पूछा. "अब तुम्हारा क्या कार्यक्रम है? "वापिस जाऊंगा" मैंने उत्तर दिया।

वे बोले, "यदि तुम लाहौर में रुकना चाहो तो मैं "हिंदी मिलाप" में प्रूफ रीडिंग का काम दिला सकता हूं।" मेरे लिए यह बड़ी खुशी की बात थी। अगले दिन वे मुझे श्री यश के पास ले गए। उन्होंने मुझे श्री हरनाम सिंह 'प्रवासी' के पास प्रूफ रीडिंग का काम समझने के लिए भेज दिया। वे वहां प्रधान प्रूफ रीडर थे। प्रूफ रीडिंग का मुझे पहले भी थोड़ा बहुत अनुभव था। तीसरे दिन श्री यश ने मुझे बुला कर पूछा, "अब तुम स्वतन्त्र रूप से यह काम कर सकोगे?" मैंने हामी भर दी। परीक्षण के तौर पर एक शिफ्ट में स्वतन्त्र रूप से काम करने को कहा गया। मैंने बड़ी सावधानी से प्रूफ पढ़े। मुझे संतोष था कि गलती कोई नहीं रह गई है। वही हुआ। दूसरे दिन मैं जब यश जी से मिला तो वे समाचार पत्र के पन्ने पढ़ रहे थे। मेरा काम संतोषजनक था। इस प्रकार मुझे उसी दिन से पार्ट टाइम प्रूफ रीडर रख लिया गया। नौ से बारह बजे तक रात की ड्यूटी थी। वेतन था केवल बत्तीस रुपये जो मेरे लिए काफी थे और दिन का समय भी मेरे लिए खाली था। मैंने ओरियण्टल कालेज में दाखला ले लिया और साथ में इंगलिश भी पढ़ने लगा।

1946 में पंजाब में साम्प्रदायिक उपद्रवों का समारम्भ हो चुका था। चारों ओर से भयंकर समाचार आने लगे, लेकिन हमने लाहौर रहने का ही

निर्णय किया। इसी दौरान श्री प्रवासी वापिस बनारस चले गये और मैं एक मात्र प्रूफ रीडर रह गया। तब मेरा वेतन भी बढ़ा कर 150 प्रति मास कर दिया गया।

पंजाब में हालात बिगड़ते गए। आए दिन कहीं न कहीं आगजनी, हत्या, और बम विस्फोट। कर्फ्यू पास दे दिए गए थे। मैं निस्बचत रोड पर रहता था और चाहे हमारे रहने का प्रबंध मिलाप भवन में ही था, लेकिन सायंकाल कर्फ्यू में आना-जाना मुझे अच्छा लगता। हालांकि कर्फ्यू में भी छुरे बाज़ी की घटनाएं होती रहती थीं।

14 अगस्त 1947 को मिलाप भवन में आग लगा दी गई। बाहिर कर्फ्यू था। उसमें भी गोलियों की आवाज़ें सुनाई दे रही थी। उस बिल्डिंग में लगभग 100 व्यक्ति थे, जिन में महात्मा खुशहाल चंद जी का परिवार भी समिलित था। इसी दौरान हमारी बिल्डिंग पर भी कुछ गोलियां आने लगीं। बचने का कोई चारा न था। तभी मिलिट्री कण्ट्रोल रूम को फोन किया गया और डोगरा यूनिट की एक टुकड़ी हमारी रक्षा को पहुंच गई। तब हम लोग उसी टुकड़ी के सरंक्षण में कूपर रोड की एक कोठी में चले गए। उसी दिन पाकिस्तान की घोषणा हुई और हमारी आशा के विपरीत लाहौर पाकिस्तान में चला गया।

एक ओर रेडियो पर पाकिस्तान स्थापना समारोह के समाचार तो दूसरी ओर हिन्दू-सिखों पर अत्याचारों, कत्लोगारद और साड़-फूंक के समाचार निरन्तर मिल रहे थे। परिस्थितियां गम्भीर थीं। तभी हमें समाचार मिला कि लाहौर छावनी (मियां वाली) से एक गाड़ी फिरोज़पुर (भारत) के लिए रवाना हो रही है। हम बड़ी मुश्किल से गाड़ी की छत पर सवार हो गये। यह इस रास्ते से भारत जाने वाली अन्तिम गाड़ी थी।

अभी हमारी मुसीबत की घड़ियां शायद बाकी थीं। रास्ते में हमारी ट्रेन को उपद्रवियों की भारी भीड़ ने कसूर स्टेशन पर रोक लिया और चारों ओर से ऊंचे ऊंचे नारे लगने लगे। चूंकि इसी प्रकार कुछ अन्य ट्रेनें कत्लेआम का शिकार हुई थीं, अत: हमने भी सोच लिया कि अब हमारा अन्त आ पहुंचा है। इस विकट स्थिति में भी भाग्य ने हमारा साथ दिया। सेना की एक टुकड़ी इसी ट्रेन में एक ब्रिगेडियर की कमान में भारत आ रही थी। ब्रिगेडियर झट ट्रेन से बाहिर निकला और ड्राइवर को कहा कि "गाड़ी क्यों नहीं चलाते ? उसने कहा", जनाब ट्रेन इस भीड़ ने रोक रखी है।" और तब भीड़ को सम्बोधित करते हुए ऊंचे स्वर में उसने कहा कि तुम्हारी खैर इसी में है कि यहां से भाग जाओ। वर्ना सब भून दिए जाओगे। इस प्रकार पुन: गाड़ी चली। कुछ दूरी पर भारत आ गया और एकत्रित लोगों ने "भारत

माता की जय" के नारों से हमारा स्वागत किया। यह गाड़ी बारह घंटे में प्रात: 5 बजे फिरोज़पुर छावनी पहुंची। घर पहुंचने में हमें पन्द्रह दिन लगे।

मेरे माता-पिता को विश्वास हो चुका था कि मैं इस संसार में नहीं हूं। वे हताश थे। तब मेरे एकाएक घर पहुंचने पर सारा गांव खुशी में डूब गया।

सन् 1948 की 30 जनवरी को मेरा विवाह संसारवती से सम्पन्न हुआ। यह विवाह उस समय हुआ, जब हम लोग शरणार्थी बन कर भारत जा रहे थे। कठुआ के एक गांव उत्तरी बरवाल में विवाह की रस्म अदा हुई। बिन बारात और बाजों के यह विवाह विचित्र स्थिति में हुआ। विवाह के तुरन्त बाद मैं दिल्ली और मेरा परिवार दमोहा (मुकेरियां) चला गया।

हमारा कार्यालय कनाट प्लेस में था और प्रैस सदर बाज़ार में और क्वार्टर मिला राम पुरा में। आधा दिन तीनों जगह आने जाने में ही गुज़र जाता और फिर यदि रात की ड्यूटी हो तो परेशानी बढ़ जाती। दिल्ली में ही मेरा परिचय क्षेम चन्द्र सुमन, देवराज दिनेश, रामावतार त्यागी, उदय शंकर भट्ट आदि से हुआ जिन में मैं लेख आदि लिया करता था।

कुछ समय के बाद मैं फिर जालन्धर पजाब लौट आया। जालन्धर चाहे उन दिनो एक छोटा सा शहर था, लेकिन कुछ पंजाब की राजधानी बनने के कारण वह महत्वपूर्ण बन गया था, फिर दैनिक एक साथ वहां से प्रकाशित होने लगे। आकाशवाणी का केन्द्र भी वहां खुल गया था। अब मैं प्रूफ रीडिंग के सम्पादकीय विभाग में आ गया और मेरी वरीयता भी बढ़ गई थी। स्थानीय साहित्यकारों के लिए हिन्दी मिलाप काफी लाभप्रद सिद्ध हुआ और बहुत से साहित्यकार लेखन द्वारा इस में पहुंच गए। हमारी कोशिश उदीयमान साहित्-कारों को प्रोत्साहन देने की थी। इस प्रकार मेरा इन कवियों, कहानीकारों एवं अन्य लेखकों से सम्पर्क स्थापित हुआ।

इस प्रकार पंजाब की साहित्यिक गतिविधियों से मेरा नाम विशेष रूप से जुड़ गया।

जालन्धर इन दिनों हिन्दी और हिन्दी साहित्य का एक प्रमुख गढ़ बन चुका थी। डा० इन्द्र नाथ मदान व मोहन राकेश पंजाब विश्वविद्यालय के जालन्धर स्थित हिन्दी विभाग में थे। श्री हरि कृष्ण प्रेमी, मदन लाल मधु व शम्भु नाथ 'शेष' आकाशवाणी में थे।

हिन्दी साहित्य परिषद के तत्वावधान में कई एक साहित्यिक कार्यक्रम बड़े पैमाने पर आयोजित हुए। एक ऐतिहासिक अखिल भारतीय सम्मेलन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह सम्मेलन सन् 1950 में डा० रामधारी सिंह दिनकर की अध्यक्षता में हुआ। जिसमें सर्व श्री भगवती चरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, हरि कृष्ण प्रेमी, उदय शंकर भट्ट, देवराज दिनेश एवं रामावतार

त्यागी के नाम विशेष रूप से सम्मिलित हुए। इन्हीं दिनों मेरी तीन पुस्तकें प्रकाशित हुईं। अश्रुमाला, महापुरुष और बालगीत।

इसी वर्ष अम्बाला छावनी में पंजाब हिन्दी साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन हुआ, जिसका उद्घाटन लोकसभा के तत्कालीन अध्यक्ष श्री अनन्त शयतम् आयंगर ने किया। वहीं मेरा उनसे परिचय हुआ। वे अंग्रेज़ी के अलावा संस्कृत व हिन्दी के बड़े विद्वान थे। बाद में उन्होंने पुस्तक भारत दर्शन की भूमिका भी लिखी।

1957 में जालन्धर में ही पंजाब हिन्दी साहित्य अकादमी का गठन किया गया। इस संस्था की ओर से 'रेखा' नामक त्रैमासिक, साहित्यिक पत्रिका का प्रकाशन भी आरम्भ किया गया। यह एक चर्चित पत्रिका थी। मैं इसका यह सम्पादक था।

नवम्बर 1961 में मैं मिलाप की नौकरी छोड़ कर राज्य सरकार के सूचना विभाग में आ गया। हिन्दी पत्रिका 'योजना' का सम्पादन मेरे लिए अप्रत्याशित था। मुझ से पूर्व श्री वेद राही इस पत्रिका के सम्पादक थे।

सन् 1962 में चीनी आक्रमण के दौरान राज्य का सारा प्रकाशन विभाग ही बजट की चपेट में आ गया। "योजना" का प्रकाशन बंद कर दिया गया। और मुझे सहायक सूचनाधिकारी बना दिया गया।

1966 में जालन्धर में राज्य का पत्र सूचना कार्यालय खोला गया और मुझे इस कार्यालय का पहला सूचनाधिकारी बना कर भेजा गया। यह काम चुनौती भरा था। मई की भीषण गर्मी, न कार्यालय, न रिहायश और न पैसा। जाती बार काम चलाने के लिए केवल पचास रुपये दिए गए। फिर नौ सदस्य स्टाफ के। मैंने होटल में रिहायश कर ली। लेबर अफसर का कार्यालय, जो केवल एक छोटे कमरे पर आधारित था, में सामान रखा। एक दो दिन में दफतर के लिए मकान ढूंढा। राज्यपाल के नाम पर किराएनामे पर हस्ताक्षर किए और प्राप्ति के लिए श्रीनगर भेज दिया। स्टेशनरी, पत्र पत्रिकाएं सभी उधार पर, बोर्ड भी उधार पर और फर्नीचर किराए पर और इस प्रकार पत्र सूचना कार्यालय ने काम करना आरम्भ कर दिया। यह बात संतोषप्रद थी कि मेरे स्टाफ का मुझे पूर्ण सहयोग प्राप्त रहा।

यह विभाग दरअसल एक जन सम्पर्क विभाग था, जिस का काम पाकिस्तान एवं अन्य भारत विरोधी शक्तियों के दुष्प्रचार का जवाब देना था। यह विभाग अर्ध राजनीतिक के तौर पर भी काम करता था। उपरोक्त कामों के अलावा दो पत्रिकाओं "फुलवाड़ी" और "डुग्गर समाचार"

का भी प्रकाशन करता था। "फुलवाड़ी" डोगरी नामक पत्रिका थी, जो पहले फ़ारसी लिपि और बाद में देवनागरी लिपि में प्रकाशित होती थी। इसे काफी लोकप्रियता मिली और इस वर्ष तक मैं इस विभाग के सम्पादन प्रकाशन का काम देखता रहा। स्व० कृष्ण स्मैलपुरी मेरे सहायक थे।

इस दौरान मुझे बहुत सी पुरानी फाइलों, दस्तावेज़ों और राज्य प्रबन्ध आदि के बारे में सामग्री पढ़ने को मिली। विशेषकर डोगरी भाषा व लिपि का सरकारी काम काज में प्रयोग, शाही फरमानों, रेलवे व दूसरे सर्वे और पत्र व्यवहार आदि की जानकारी भी।

इसी दौरान शेख साहब का एक वक्तव्य समाचार पत्रों में प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने कहा था, "हर स्वतन्त्र देश की अपनी राष्ट्र भाषा होती है और सर्वाधिक बोली व समझी जाने के कारण केवल हिन्दी को ही यह गौरव प्राप्त होना चाहिए। उसके स्वरूप के बारे में बहस हो सकती है। इस पर भारत भर की पत्र-पत्रिकाओं में बड़ी अच्छी प्रतिक्रिया हुई। उन्होंने शेख साहब की भूरि भूरि प्रशंसा की। उन सारे पत्र पत्रिकाओं की कटिंगस मैंने अपने संक्षिप्त नोट और उनके लेखों के सारांश सहित शेख साहिब को भिजवा दीं। शेख साहिब ने उन सभी अग्र लेखों और टिप्पणियों को पर्शियन लिपि में अनूदित करने को कहा। यह अनुवाद मैंने शेख साहिब को प्रस्तुत किया। निदेशक सूचना विभाग मेरे साथ थे। उन्होंने सभी को गौर से पढ़ा और पूछा, इनमें राज्य के किसी हिन्दी पत्र को कटिंग नहीं है? मैंने कहा "राज्य से कोई हिन्दी पत्र प्रकाशित नहीं होता।" उन्होंने आश्चर्य प्रकट किया और कहा कि तुम स्वयं विभाग की ओर से एक दैनिक पत्र चालू करो। मैंने कहा कि शुरू में साप्ताहिक से आरम्भ करते है। बाद में उसे दैनिक भी किया जा सकता है। इसी दौरान प्रैस की समस्या सामने आई। उन्होंने मेरे सुझाव पर एक लाख की राशि प्रदान करने का वचन दिया और बाद में स्वीकृति भी भेज दी, लेकिन 'तंत्र कृपा' से प्रैस न लग सका और पूरा पैसा बेकार पड़ा रहा।

इसी दौरान दैनिक 'मिलाप' के संचालक श्री यश से मेरी बातचीत हो चुकी थी और उन्होंने अपने दोनों दैनिकों (मिलाप व हिन्दी मिलाप) का मुझे सम्पादक बना दिया। लगभग छः मास तक मैंने काफी परिश्रम किया। सम्पादन प्रबंध, छपाई आदि को बेहतर बनाने के यत्न किए, लेकिन अब हालात इतने बदल चुके थे कि मैं अधिक सहायता न कर सका। उधर पंजाब के हालात दिन प्रति दिन खराब होते जा रहे थे। तभी घर से वापिस आने का तकाजा बढ़ने लगा और आखिर मुझे वापिस आना पड़ा।

उसके बाद मैंने स्थायी रूप से कठूआ में ही रहने का निर्णय कर लिया।

सन् 1986 में सरस्वती प्रकाशन प्रेस नाम से एक प्रिंटिंग प्रेस की स्थापना की और अब प्रेस के अलावा लेखन भी कर रहा हूं। कठूआ में अब आकाशवाणी का केन्द्र खुल गया है। त्रिवेणी कलाकुंज संगठन से जुड़ कर नवीन प्रतिभाओं को आगे लाने के प्रयास में लगा हूं।

आज जीवन के इस मोड़ पर खड़ा मैं जब अपने समस्त जीवन का सिंहावलोकन करता हूं तो मुझे संतोष होता है कि जीवन उपलब्धियों से खाली नहीं रहा। जनसाधारण से लेकर आभिजात्य वर्ग तक से सम्मान और प्रेम पूर्वक घुला मिला हूं। मेरा नाम है, मित्र हैं, प्रशंसक और स्मृति शेष प्रियजन हैं।

जिनके सहारे खुली सांस ले रहा हूं। काम कर रहा हूं। थकी उंगलियों के पोरों में थमा सिग्रेट कभी थर थराता है...तो भ्रमवश दिवंगता पत्नी के हाथ में थमा चाय का प्याला, मेज़ पर टिकने के साथ-साथ उसकी हल्की हंसी की खनक कहीं आस पास बिखर उठती है? जैसे मैं फिर ताज़ादम हूं। अपने दोनों पैर चप्पलों में फंसाए...उठ रहा हूं......प्रेस में जा रहा हूं......



बहिरंग

शिव रैना

जम्मू के कंडी-क्षेत्र के बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न पत्रकार, लेखक, कवि तथा सम्पादक मनसा राम शर्मा 'चंचल', को यदि आप ने देखा हो, तो 'सदाबहार' हंसता-मुस्कराता पौधा देख लें। तीन दशक पूर्व, मैंने 'चंचल' जी को जैसा देखा था, आज भी वह वैसे ही दीखते हैं। यों लगता है, मार्तण्ड और शंकराचार्य के दुर्लभ प्राचीन स्मारकों की तरह, चचल जी पर उम्र या प्राकृतिक परिवर्तनों ने कोई 'नेगेटिब' निशान नहीं छोड़ा है। वे जितने भावुक हैं, उतने ही चंचल। जितने निष्ठुर हैं, उतने ही दयालु। अपने सुख और सहयोग के खजानों को बांटना ही, उनका काम है। हमने उन्हें बड़ी से बड़ी विपत्तियों में भी, अस्थिर या उदास नहीं देखा। चिन्ता या रोग-शोक की क्षणिक रेखाएं, थोड़ी देर बाद ही सहज और सपाट हो गयीं।

'चंचल' जी से मेरा परिचय 1960 में हुआ था। उन दिनों मैं डी० ए० वी० कॉलेज चंडीगढ़ में बी० ए० का छात्र था। हमारी हिन्दी पाठ्य-पुस्तक 'नलिनी' में हरिऔध, जयनाथ नलिन और सुभद्राकुमारी चोहान के साथ 'चंचल' जी की दो कविताएं संकलित थीं, मैंने सोचा, चंचल जी छायावादी युग के कोई घिसे-पिटे कवि होंगे।

1966 में मैंने जम्मू-कश्मीर सूचना विभाग में नौकरी शुरू की, तो तत्कालीन सूचना निदेशक श्री गणेश दास शर्मा ने आदेश दिया: "तुम फिलहाल 'जम्मू-कश्मीर समाचार' नामक एक साइक्लोस्टाइल साप्ताहिक-पत्र शुरू करो।" मैंने आदेश का पालन किया। प्रथम अंक की प्रतियां संबंधित वितरण—विभाग ने यथोचित स्थानों पर भेज दीं। एक दिन मुझे निर्देशक ने अपने ऑफिस में बुलाकर, पत्रिका की रेखांकित प्रति थमाई। मैंने गम्भीरता से देखा, कि मेरे द्वारा सम्पादित अंक की उस प्रति पर, कम से कम बीस गलतियों पर गोल-घेरों के, सुर्ख निशान बने थे, और नीचे 'म. र. चंचल' अंकित था।

मैंने तड़पकर, अपने साहित्यकार मित्र तथा सहयोगी ज्योतीश्वर 'पथिक' से पूछा—"ये 'म.रा. चंचल' कौन हैं?"

"तो क्या तुम अभी चंचल जी से नहीं मिले ? चलो, अभी चलते हैं। मुबारिक मण्डी में उनका दफतर है। वे फील्ड-सर्वे आर्गेनाइजेशन की हिन्दी डोगरी-उर्दू की 'डुग्गर-समाचार', 'फुलवाड़ी' के और अन्य प्रकाशनों के लोकप्रिय सम्पादक और कवि हैं ! राज्य के वित्तमन्त्री गिरधारी लाल डोगरा इन्हें 'दैनिक हिन्दी मिलाप' जालन्धर से, स्पेशल वेतन सहित, रियासत में लिवा लाए हैं।" 'पथिक' बोले।

जिज्ञासा, शिकायत और ईर्ष्या का भाव लिए, मैं थोड़ी देर बाद ही 'पथिक' के साथ चंचल जी के कार्यालय में पहुंचा। देखा, एक हंसमुख, बातूनी और सच्चे-सुच्चे दिल वाला नवयुवक, अपने शानदार केबिन में, लेखक-लेखिकाओं से घिरा बैठा था। गर्मागर्म चाय के दौर चल रहे थे। लेखक धड़ल्ले से यहां वहां, फोन-पर-फोन घुमा रहे थे। 'पथिक' जी ने मुझे 'चंचल' जी से मिलाया।

कुछ पलों की छोटी सी इस मुलाकात में ही मुझे लगा, कि मैं इस हंसमुख, चुंबकीय और दरियादिल साहित्यकार को, सदियों से जानता हूं। जब मुझे यह पता चला, कि इसी 'चंचल' की कविताएं मैंने पाठ्य-पुस्तक में पढ़ी हैं, तो उनके प्रति मेरी श्रद्धा दुगुनी हो गई। कहने की आवश्यकता नहीं, कि समान विचारों और समान प्रकृति के कारण, हम दोनों ऐसे मिले, कि फिर बिछुड़ने के बारे में सोचा ही नहीं जा सकता था। हर दृष्टि से प्यारा लगा यह व्यक्ति। अभिमान के बजाय नम्रता और गम्भीरता के बजाय उन्मुक्त हंसी वाले उच्चाधिकारी, प्रायः बहुत कम देखने को मिलते हैं।

मनसाराम शर्मा 'चंचल' गांव गुढ़ा मुंडेयां (तहसील हीरानगर) के प्रतिष्ठित पंडित साधुराम जी के सुपुत्र हैं। गुढ़ा मुंडेयां में 'चंचल' जी का जन्म 17 जनवरी, 1928 को हुआ। शिक्षा-दीक्षा हीरानगर, जम्मू और पंजाब में हुई।

'हिन्दी मिलाप' लाहौर (पाकिस्तान) और जालन्धर में 'चंचल' बतौर मैनेजिंग-एडीटर काम करते रहे। प्रशासन, प्रबन्ध के साथ-साथ-संपादन व लेखन भी चलता रहा। तत्कालीन 'मिलाप' की लोकप्रियता, में 'बाल-गोष्ठियों तथा अनूठे साहित्य-समारोहों में, 'चंचल' जी और श्री सतसोनी (अब 'नवभारत टाइम्स' के संयुक्त संपादक) का गहरा योगदान है। 'चंचल' जी ने मिलाप प्रकाशन समूह को अपने घर से भी प्यारा और पवित्र समझकर, जी-तोड़ मेहनत की। अपने व्यवहार से हर प्रभाग और हर मजदूर व कर्मचारी का, मन मोह लिया। 'चंचल' जी हर कार्य में न केवल दिलचस्पी लेते, बल्कि उसे सीख भी लेते थे। वे आवश्यकतानुसार, 'कम्पोजिंग' तक कर लेते थे। प्रकाशन का कोई गुर, कोई रहस्य, उनसे छिपा नहीं था ! वे पूरी-पूरी रात, प्रैस में काट दिया करते थे। जम्मू-कश्मीर राज्य से फील्ड सर्वे आर्गेनाइजेशन की 'फुलवाड़ी' 'डुग्गर समाचार' से बतौर सम्पादक जुड़ने और फिर सूचना-विभाग के प्रकाशनों

('योजना' 'जम्मू-कश्मीर समाचार' 'बाल-विकास' तथा अन्य ठोस पत्रों) को सम्पादित करने में, उन्हें इसीलिए अभूत-पूर्व लोकप्रियता और सफलता प्राप्त हुई।

साहित्यिक राजनीतिक तथा सामाजिक संस्मरणों का मौलिक पिटारा हैं 'चंचल' जी। बस, किसी विषय, राजनीतिज्ञ या साहित्यकार का नाम भर लीजिए और 'लांग प्ले रिकॉर्ड' सुनिए! सुनिए ही नहीं, चाय, सिगरेट और मनोरंजन के मजे भी लूटिए। इन्होंने सैंकड़ों बार अपने बड़े से बड़े भेद भी, संस्मरणों के साथ ही उगल दिये।

'चंचल' जी मलिका विक्टोरिया से वर्डसवर्थ और लॉर्ड कर्ज़न से जी. एम. सादिक तक के अन्यतम संस्मरण, एक के बाद एक सुनाते रहे हैं। ऐसा लगता चंचल जी को इन प्रेरक, मनोरंजक और विलक्षण संस्मरणों की सप्लाई अलौकिक ढंग से जारी हैं। अपने विशेष अंदाज में, पूरे डॉयलागों और एक्शन के साथ, सुनाते रहे हैं ये दुर्लभ संस्मरण।

'चंचल' जी जहां पुराने और लोकप्रिय लेखक-लेखिकाओं के भक्त रहे हैं, वहीं वे नये लेलकों को प्रोत्साहन देने में सबसे आगे रहे हैं। उन्होंने कभी किसी स्थानीय, बाहरी, अनाड़ी या प्रतिभाशाली लेखक को, निराश नहीं किया। रचना को खिले-माथे से स्वीकार किया और यथा समय छापकर, प्रति और पारिश्रमिक भी भेजा है। उनके प्रशंसकों, शिष्यों और 'आभारी' लेखकों में सचिव व डिवीज़नल-स्तर के अधिकारी और उनके परिजन तक शामिल हैं।

'चंचल' जी जिस ढंग से नारी वर्ग का समुचित आदर, स्तुति, प्रोत्साहन तथा उत्थान करते रहे हैं, उन्हें 'डुग्गर का शरत चन्द्र' कहना अनुचित नहीं होगा। उन्होंने छात्राओं, नौकरी-पेशा महिलाओं और नई-पुरानी लेखिकाओं को उन्नति के न केवल कई-कई अवसर दिए, बल्कि उन्हें एक ऊंचे स्तर की हिन्दी-डोगरी लेखिका भी बनाया। वे कहते थे कि पुरुष लेखक तो कहीं भी, कैसे भी छप सकते हैं, परन्तु इन लजाई-सकुचाई लेखिकाओं की रचनाओं को संशोधन तथा प्राथमिक आधार पर प्रकाशन की सुविधा, हम लोग नहीं देंगे, तो कौन देगा? उन्होंने पद्मा सचदेव के सक्रिय सहयोग से, अन्यतम पार्श्व-गायिका लतामंगेशकर सम्बन्धी सचित्र 'फुलवाड़ी' विशेषांक भी निकाला था। और वकील तथा प्रशासनिक अधिकारी महिलाओं के लेखों से, अपनी पत्रिकाओं की शान बढ़ाई।

भारत-पाक विभाजन के दिनों में जान हथेली पर रखकर, दंगों फसादों भरीं ट्रेन द्वारा, लाहोर से जालन्धर आने वाला यह धर्मनिरपेक्ष युवा पत्रकार, लेखक, प्रथम श्रेणी का सैलानी भी रहा है। नौकरी, साक्षात्कार और साहित्य-समाराहों के संदर्भ में, 'चंचल' ने लगभग पूरे देश का भ्रमण किया है। वे जम्मू कश्मीर और देव-भूमि हिमाचल से, विशेष रूप से प्रभावित हैं। इन राज्यों के

नैसर्गिक सौंदर्य ने, उनके भीतर छिपे कवि लेखक को कुछ संवार कर, आगे बढ़ाया है। 'चंचल' जी पंजाब की साहित्यिक गतिविधियों के केन्द्र-बिन्दु रहे हैं। वे 'मिलाप' के संस्थापक रणवीर जी और यश जी के सौहार्दपूर्ण सरंक्षण में, काम करते रहे हैं। उन्हें उत्तर प्रदेश ने 'साहित्य श्री' की उपाधि से सम्मानित किया है। उनकी अनेक पुस्तकें पंजाब और जम्मू-कश्मीर सरकार द्वारा पुरस्कृत हुई हैं। जम्मू की साहित्यिक-गतिविधियों पर भी उनकी बड़ी गहरी छाप रही है। वे आकाशवाणी के महत्वपूर्ण वार्ताकार, कवि तथा कहानीकार, हिन्दी साहित्य मंडल के प्रधान रहे हैं। उन्होंने हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए, उल्लेखनीय भूमिका निभाई है। उनके द्वारा किया सन्त तालस्ताय का अमर उपन्यास 'युद्ध और शांति' डोगरी का, महत्वपूर्ण अनुवाद है। वे गर्व से बताते है कि, आज के नामी-गिरामी हिन्दी-डोगरी और उर्दू लेखक व कवि, लगभग उन्हीं की पत्रिकाओं की प्रेरक उपज हैं।

हिन्दी, उर्दू, अंग्रेज़ी, डोगरी भाषाओं पर भी 'चंचल' जी का पूरा अधिकार रहा है। हर भाषा में, उनकी पकड़, फुर्ती और प्रौढ़ता देखते ही बनती हैं। जो 'प्रेस-नोट', फीचर, लेख या अनुवाद शेष सहयोगी चार दिनों में (डरते-डरते) पूरा करते थे, 'चंचल' जी अक्सर उसे चुटकियों में बढ़िया ढंग से निपटा कर, हंसोड़ मित्रों के साथ 'कॉफी-हाऊस' में गपशप करने बैठ जाते थे। उनकी भाषा, स्टाइल तथा कार्यकुशलता में एक विशेष परिपक्वता, लापरवाही तथा आत्म-विश्वास थे। नतीजा यह होता था कि हर अधीनस्थ कर्मचारी इस 'चाय और सिगरेट बांटने वाले' कर्मठ अफसर के साथ काम करने में, गौरव अनुभव करता था। इतना ही नहीं, उन्हें ज्ञान-विज्ञान, मनोविज्ञान, चिकित्सा, कला, कानून, राजनीति, धर्म, ज्योतिष तथा कूटनीति का पूरा पूरा ज्ञान रहा है। बहसों, तर्कों, उक्तियों या उदाहरणों में 'चंचल' जी से जीत पाना, बड़ा कठिन कार्य है। वे हर वर्ग के व्यक्ति, अफसर और मन्त्री के चहेते रहे हैं। उन्हें बहाने बाज़, सुस्त या निकम्मे प्रैस वालों से भी काम लेने का ढंग आता था। छोटे-बड़े भाषाई अखबारों के सम्पादक भी उनके मित्र तथा हितैषी रहे हैं। बड़े से बड़ा अनुवाद मुफत कर देना, किसी को रेडियो वार्ता लिख देना या किसी के लिए मुफ्त फीचर लिख देना, उनके बाएं हाथ का खेल रहा है। उन्होंने हंसते-हंसते सभी जरूरमंदों की मदद की और कभी माथे पर शिकन नहीं डाली।

बकौल ज्योतीश्वर 'पथिक' के 'चंचल' जो जन-संपर्क-गुणों से सम्पन्न "चलता-फिरता मीडिया" है।"

प्रथम भेंट के बाद ही, चंचल जी ने मुझ से कहा था: "आप मेरे सह-सम्पादक बन जाइए।" प्रयासों के बावजूद, ऐसा न हो सका। परन्तु जब 'चंचल' ने जम्मू-कश्मीर सूचना विभाग की पत्रिकाओं को पुन: जन्म दिया, तो

उन्होंने मुझे अपना दाहिना हाथ बना लिया। एकाध मतभेद के बावजूद, 'चंचल' जी ने घोषणा की थी कि : "मेरे बाद इन प्रकाशनों को एक ही व्यक्ति सुचारु ढंग से चला सकता है। वह है शिव रैना।" मेरे सम्पादन में सूचना विभाग की पत्रिकाएं दो बार सम्मानित हुई। मुझे भी 'साहित्य श्री' की उपाधि तथा अन्य सम्मान मिले हैं। प्रकाशन आज भी नियमित और लोकप्रिय हैं।

इस परिपक्व और परिश्रमी पत्रकार के खिले चेहरे पर, हमेशा एक मासूम मुस्कान नाचती रहती है। एक बार इनका सात वर्षीय बड़ा बेटा तुषार जो अब उद्योग-विभाग में जनरल मैनेजर है दो माह तक, मियादी बुखार से पीड़ित रहा। एक दिन 'चंचल' जी दफ्तर से छुट्टी करके घर आए, तो उन्होंने कृशकाय बेटे को, बड़ी बेटी दर्शन से कहते सुना "दीदी, तुम जो खाना खा रही हो, उसमें से थोड़ा सा मुझे भी दे दो। अब तो मैंने मर जाना है। डॉक्टरों ने मेरा खाना बन्द कर रखा है।" 'चंचल' जी की आंखों में आंसू आ गए। उन्होंने दुस्साहसी बनकर, तुरन्त रोगी बेटे को भर-पेट भोजन खिला डाला। और, आश्चर्य यह रहा, कि रोगी बेटा उसी दिन से स्वस्थ होने लग गया।

एक लट्ठमार, अधकचरे-लेखक ने, एक बार सम्पादक 'चंचल' जी को बेहद तंग किया। कूड़ा-छाप रचनाएं, बासी समाचार और धुंधले-चित्र थमाकर, उग्र लेख तुरन्त छापने की जिद करता रहा। 'चंचल' जी ने प्रेमपूर्वक समझाया। वह हाथापाई पर उतर आया। उन्हीं दिनों, आकाशवाणी की ओर से 'चचल' को एक कहानी पढ़ने का निमंत्रण मिला। 'चंचल' जी ने उसी मुंहजोर-लेखक को कहानी का एक हंसोड़ पात्र बनाकर, पंद्रह मिनट की 'बांके' शीर्षक से यादगारी कहानी, साहित्यिक प्रोग्राम में पढ़ डाली। सौभाग्य से वह कहानी उस लेखक ने भी सुनी। और बेचारे की छठी ज्ञानेंद्र भी फड़की। तीन रोज बाद ही उक्त लट्ठमार लेखक ने 'चंचल' जी के साथ हाथ मिला लिया।

जो छोटा-बड़ा, कमीना-घटिया स्त्री-पुरुष 'चंचल' जी से टकराया, उसे प्रकृति ने दण्ड अवश्य दिया। इसीलिए, वे कहते हैं : "गरीब की आह से डर"। उसे तंग न कर। तंग करेगा, तो वह रो देगा। वह रो देगा, तो तू सब खो देगा।" एक बार दफ्तर में साहित्यकार बंधुओं का तांता लगा था। चपरासी देवरत्न उस दिन अपने गांव झज्जर कोटली से, काफी देर बाद दफ्तर पहुंचा था। 'चंचल' जी ने उसे घूर कर देखा। हम सब ने समझा, कि अब बेचारे चपड़ासी की शामत आ गई। लेकिन विशाल हृदय 'चंचल' जी संपत स्वर में बोले "आज बहुत लेट आए हो तुम, देव रत्न। खैर! पहले तुम फौरन चाय और सिगरेट ले आओ। मैं तुम पर बाद में नाराज होता हूं।" हम सब हंस पड़े।

'चंचल' जी के दोनों बेटे, बेटी उच्च शिक्षित और संतोषजनक पदों पर

सेवारत हैं। सरल स्नेहिल सगुण कैंसर पीड़ित उनकी पत्नी अब अचानक उन्हें अकेला कर गयी है। बगैर उनके—

जीवन का लम्बा रस्ता है,
कौन कहां तक चल सकता है?
यह तो है बस छलना जग की,
कौन कहां तक छल सकता है?
कौन कहां तक चल सकता है?
जीवन है यह बहता दरिया,
बहता पानी कभी न लौटा,
आगे बढ़ना काम है उसका,
पीछे आना कभी न होता।
यही नियम है इस जगत का,
बदल न कोई पल सकता है।

'चंचल' जी की रगों में, रक्त की जगह सचमुच स्याही बहती है। एक दशक पहले, कश्मीर सूचना विभाग से (सम्पादक पद से) मुक्त होने के बाद उन्होंने सीमांत ज़िला कठुआ में 'सरस्वती मुद्रणालय खोला है। उनका छोटा बेटा ऋतुराज उनका सहयोगी है। आत्मनिर्भरता और सैलानी-प्रवृत्ति के कारण, 'चंचल' जी को जीवन में एकाकीपन या नीरसता ने कभी नहीं सताया। आवश्यकता पड़ने पर, वह किचन के सारे कार्य भी सुचारू ढंग से कर सकते हैं। धर्म-भीरू हैं। सभी देवी-देवताओं को मानते हैं। एक बार हिमाचल के सारे तीर्थ स्थल, महीने भर में घूम आए थे। सरल और चुस्त होने के कारण, वे हर अच्छे कार्य के लिए सदा तैयार रहते हैं। 'हर वस्तु का कुछ-न-कुछ ज्ञान और 'कुछ-न-कुछ का सम्पूर्ण ज्ञान', अगर आप देखना चाहें, तो 'चंचल' जी में देखें। उन्हें हिन्दी/उर्दू/अंग्रेज़ी/डोगरी/पंजाबी डेस्क पर आप एक-सी फुर्ती और सामर्थ्य के साथ बैठा पाएंगे। कश्मीर घाटी में, वे विदेशी सैलानियों के साथ घण्टों घूमते रहे हैं। उन्हें यह खेद रहा है, कि बंद पड़ी बाल-पत्रिका 'बाल-विकास' को दुबारा शुरू न करा सके। उन्होंने राष्ट्रीय-स्तर के मुन्शी प्रेम चन्द, बाल तथा शेरे कश्मीर विशेषांक निकाले थे जो तत्कालीन मुख्यमन्त्री शेख साहिब से विमोचित करवाए। सूचना विभाग के हिन्दी प्रकाशनों के लिए, एक स्वतंत्र मुद्रणालय तक शेख साहब से स्वीकृत करवा लाए—परन्तु नौकरशाही के पचड़ों ने, वह मुद्रणालय स्थापित न होने दिया। सिने निर्माता, निर्देशक (भूतपूर्व सम्पादक) वेद राही का लगाया साहित्यिक—पौधा 'योजना' आज 'चंचल' जी की सशक्त प्रेरणा फल-फूल रहा है।

'चंचल' जी जितने अच्छे लेखक, कवि और पत्रकार हैं, उतने अच्छे ही वक्ता हैं। मैं कई बार सोचता हूं कि 'चंचल' जी अगर पत्रकार न होते, तो निश्चय ही विधायक या मन्त्री होते। उनके भाषणों में एक जानकारी पूर्ण मनोरंजन तथा सम्मोहन रहता है। वह किसी भी विषय पर घण्टों,बिना तैयारी के बोल सकते हैं। उनमें नेतृत्व-शक्ति कूट-कूट कर भरी है। आवश्यकतानुसार, हर प्रकार का व्यय भी धड़ल्ले से करते रहे हैं। जिसमें असहायों की सहायता भी शामिल हैं।

'चंचल' जी 'अश्रुमाला' 'सुषमा' 'बाल-गीत' 'जीवनियां' (महापुरुषों के अन्यतम जीवन-चरित) 'पंजाब : जीवन और साहित्य' (जम्मू-कश्मीर अकादमी द्वारा पुरस्कृत एक क्षेत्रीय दस्तावेज) ':भारत-दर्शन' (भूमिका : श्री अनन्त शयनम आयंगार : अध्यक्ष, लोक-सभा) 'महात्मा गांधी' (गांधी-शताब्दी कमेटी द्वारा पुरस्कृत) जैसी कृतियों के रचनाकार हैं। वे 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान 'सन्मार्ग', (कलकत्ता), 'सारिका', 'आज', 'सप्तसिंधु', 'पंजाब-सौरभ', 'जन-साहित्य', 'जागृति', 'दैनिक ट्रिब्यून', 'वीर प्रताप', 'पंजाब केसरी', दैनिक 'हिन्दी-मिलाप', उर्दू 'मिलाप' तथा असंख्य अन्य पत्र-पत्रिकाओं के लिए भी लिखते रहे हैं।

सूचना-सचिवालय एवं आयुक्त, जम्मू-मण्डल के साथ, ओ. एस. डी. तथा राज्यपाल लक्ष्मीकांत झा एवं वित्त मन्त्री श्री देवीदास ठाकुर के साथ सूचनाधिकारी भी रहे हैं। हिन्दी साहित्य मंडल के प्रधान पद पर रहकर, 'चंचल' जी ने 'मधुरिमा' पत्रिका का सम्पादन भी किया है।

संघर्षों से उपजी एक अलग किस्म की थकान के बावजूद स्वयं एक जीवंत संस्मरण जैसे चंचल जी अब भी वैसे हैं नदी में उगे पेड़ पर बैठे पक्षी की तरह चुस्त......चहकते हैं.........

अन्तरंग

राज भल्ला

मेरा जन्म जम्मू के एक प्रतिष्ठित एवं शिक्षित तुली परिवार में हुआ था। मेरे पिता श्री रामदास तुली एक सुलझे हुए शिक्षित नागरिक तथा आरमी हैडक्वाटर्स के आफिस में सुपरिन्टेन्डेन्ट थे। जिन से सरल सात्विक स्वभाव तथा संयमी, सादा और अनुशासित जीवन जीने की शिक्षा मिली।

अपने इस प्रारम्भिक शिक्षा-काल में मुझे पढ़ाई के अतिरिक्त प्रतियोगिताओं में भाग लेने का अत्यधिक शोक रहा। मुझे क्रान्तिकारी नेताओं की जीवन कथाओं ने प्रभावित किया था। दरअसल मैंने छुटपन में देश-विदेश के महापुरुषों आदि की जीवन कथाए पढ़ रखी थीं।

पंजाब यूनिवर्सिटी की प्रभाकर परीक्षा अच्छे अंकों में पास करके मेरा ध्यान संस्कृत भाषा की ओर आकृष्ट हुआ। पं० दयाराम जी शास्त्री द्वारा संस्थापिन "संस्कृत विद्यापीठ" जम्मू में मैंने क्रमश: प्राज्ञ, विशारद करने के बाद शास्त्री की परीक्षा की तैयारी प्रारम्भ की। अभी परीक्षा में कुछ समय था कि हम सब को भारत-विभाजन की त्रासदी झेलनी पड़ी। परीक्षा तो बीच में ही लटक कर रह गई और मुझे विशारद तक की ही संस्कृत पढ़ पाने पर संतोष करना पड़ा। संतोष इस लिए क्योंकि बाद के जीवन में मुझे फिर कभी कोई परीक्षा देने का मौका न मिला। यों जीवन में परीक्षाएं तो कई देनी पड़ीं।

इस तरह संस्कृत और संस्कृति की पहचान देने वाले इस विद्यापीठ में स्वचरित्र निर्माण का जो सुनहरी अवसर मिला वह मेरे सम्पूर्ण जीवन की श्रेष्ठतम उपलब्धि बन कर मुझे आज भी गौरवान्वित कर रहा है।

1947 में जिन विद्यार्थियों को विभाजन-त्रासदी के कारण परीक्षा देने का मौका न मिल सका उनके भविष्य को ध्यान में रखते हुए यह निश्चित किया गया कि सोशल-सर्विस में व्यस्त विद्यार्थियों को जिन जिन डिग्रियों के वे अधिकारी हैं दी जाएगी।

जब मैंने यह सुना तो मैंने सेवा के बदले में कुछ भी लेने से इन्कार करते हुए कहा—"जब मैंने परीक्षा दी ही नहीं तो डिग्री कैसी ? रही बात भविष्य की सो इस समय हमारा वर्तमान ही दांव पर लगा हुआ है पहले उसे देखना ज़रूरी है।"

मेरी यह बात मेरे कुछ सहयोगियों को अच्छी लगी भन्ना कई इस पर उठे और मेरा विरोध करने लगे।

विभाजन के कारण पढ़ाई तो अस्त-व्यस्त हो चुकी थी इसलिए मैंने और शेष सहयोगियों ने अपना समय समाज सेवा में लगाना चाहा। मीरपुर, कोटली, पुंछ, राजौरी और मुज्जफराबाद से विस्थापित लोगों के काफिले जम्मू आने लगे। कैसा त्रासद दृश्य था। नागरिक सहयोग से उन्हें कैम्पों तक पहुंचाना उनके भोजन, वस्त्र और दवा की व्यवस्था करना हमारा रोज का काम बन गया।

भारत-विभाजन त्रासदी के शिकार स्त्री, पुरुष और बच्चों के मासूम चेहरे अब भी एक एक करके मेरी नजर से गुजर रहे हैं। वह समय आज भी मेरे समक्ष सजीव हो उठा है।

सुखद घरेलु परिस्थितियों के होते हुए भी एक सहज मानवीय संवेदन ने उसे घेर लिया। हम, लोगों के शारीरक एवं मानसिक घावों को भरने का यथा संभव प्रयत्न कर रहे थे। प्रत्येक कैम्प में जाकर रामायण पाठ करते। क्योंकि उन लोगों के दु:खी हृदय को ढांढस बधाने का एक उपक्रम यह भी था।

1940 और 1945 में मैं हिन्दी साहित्य मण्डल से जुड़ गई।

सन् 47 के पाक-आक्रमण की रोमांचक घटना मेरे सामने घटी थी। लोग घरों से निकल कर सड़कों पर निकल आए थे। और अब वे दिशाहीनता की स्थिति में अपने आगे स्वयं प्रश्न चिन्ह से खड़े थे। इतने में किसी प्राईवेट कम्पनी के मालिक ने मेरे पिता जी से कहा—"लाला जी ! अपनी लड़की को हमारी बस में बैठा दीजिए। हम लोग अपने बाल बच्चों को जैसे कैसे जम्मू पहुंचा रहे हैं। इसे भी साथ लेते जाएगे।

उसी परिवार की कोई अस्सी सवारियां बस में सिकुड़-सिमट कर बैठी थीं। वे लोग वाहैगुरु का स्मरण कर रहे थे और मैं मन ही मन अपने शिव को।

गाड़ी बड़ी धीमी गति से चल रही थी। बीच में कहीं कहीं किसी सुरक्षित स्थान पर रुक कर खाने, पीने की वस्तुओं को बांटा जाता पर हर बार मुझे ही संतोषजनक न मिल पाता था जो मिलता वो भी आखिर में बचा खुचा। मैं इस पक्षपात पर बड़ी क्षुब्ध थी।

वे लोग मुझे साथ तो ले आए पर अपने मन के बहुत नजदीक न ला सके थे।

जब मेरे साथ कई वार ऐसा हुआ तो मैंने उनसे कोई भी चीज़ यह कह कर लेने से इन्कार कर दिया कि "मुझे भूख नहीं है।"

मेरे पिता जी ने इस भगदड़ में घर में रखे कुछ सूखे मेवे मेरी जेब में डाल दिये थे। मैं वही खा-खा कर पानी पीती रही।

आज जब यह घटना याद आती है तो सोचती हूं—शायद उस समय कोई भी किसी से अधिक आग्रह करने की स्थिति में नहीं था—पिता जी श्रीनगर में छूट गए। शेष परिवार जम्मू में और मैं तो बस उन्हीं के सहारे थी जो लोग मुझे साथ लाए थे।

......हम जम्मू पहुंचे। गाड़ी अब राम नगर वेद मन्दिर के आगे से गुजर रही थी। उन्होंने मुझ से कहा—"क्यों जी, तुहानुं घर छड्ड आइये ?"

मैं मन ही मन सोच रही थी कि ये लोग मेरे पिता जी के नये "मित्र" होने के नाते इस कहर की घड़ी में मुझे अपने साथ ले तो आए पर अब यों ही औपचारिक बन रहे हैं। उन्हें शहर में कर्फ्यू की वजह से अपने लोगों को ठिकाने पर लगाने की चिन्ता अधिक थी। यदि उनमें से कोई एक नौजवान भी मेरे साथ हो जाता तो मुझे भी सुरक्षा मिल जाती।

सिर पर छोटा सा ट्रंक उठाए मैं कर्फ्यू की स्थिति में कच्ची छावनी चौक पहुंची। एक सिपाही ने मुझे रुकने को कहा। मैं रुकी और अपनी स्थिति उसे बताई और फिर उसके संकेत को समझते हुए घर की राह ली। उसने जल्दी जल्दी कुछ दूर तक मेरे साथ चल कर कहा—"बहन ! जल्दी निकल जाओ, कुछ भी हो सकता है।"

......शरणार्थी सेवा के अतिरिक्त अपनी सहयोगी बहनों के साथ मैंने महारानी तारावती जी के संरक्षण में बने खुले "सेवा दल" में मिलिट्री की ट्रेनिंग ली जो उस समय अनिवार्य थी। इस दल का नेतृत्व शकुन्तला सेठ एवं सुशीला तुली कर रही थीं।

सेवादल की शिक्षा मन्त्री सुशीला तुली द्वारा मुझे बौद्धिक शिक्षक नियुक्त किया गया। इस काम को मैंने बड़े मनोयोग से किया। सेवादल के प्रति मेरे समर्पण भाव ने मेरी राष्ट्रीय भावनाओं को जगाया और मैं देश प्रेम से प्रेरित साहित्य रचने लगी।

अब आबादी का स्थानान्तरण प्रारम्भ हुआ। हमारी हिन्दू मानसिकता पाकिस्तान से लौटी अपनी ही बहु-बेटियों को अपनाने में हिचकिचा रही थी। लगता था सदियों से दुर्भाग्य हमारा पीछा नहीं छोड़ रहा है। खैर......हमने प्रभात फेरियां निकाल कर इसके विरुद्ध जनमत तैयार किया। नारों और भाषणों के माध्यम से हम समझा रहे थे कि पाकिस्तान से लौटी बहू बेटियों को

अपनाने में संकोच न करो। वे निर्दोष हैं। समय की आंधी इनको यों ही न उड़ा ले जाए इसलिए उन्हें संरक्षण दो।

परिश्रम रग लाया और फिर पाकिस्तान से लौटी लड़कियों से विवाह सम्बन्ध जोड़ते हुए लोगों ने अपनी परिवर्तित मन : स्थिति का परिचय दिया।

पुंछ के प्रतिष्ठित बख्शी परिवार के दो बेटे कृष्णलाल भल्ला (सम्प्रति जो मेरे पति हैं) और उनके भाई जगदीश मित्र भल्ला लाहौर के डी. ए. वी. कालेज में पढ़ रहे थे। देश के अन्य भागों की तरह लाहौर में भी विभाजन के फलस्वरूप कई दुर्घटनाएं हुई। पढ़ाई तो उन दिनों सब की खटाई में पड़ चुकी थी। कुछ समय तक इन दोनों भाईयों ने वहां सेवा-कार्य किया और फिर किसी अनिष्ट की आशंका से जैसे तैसे अपने घर पहुंचे। देश की उस अवस्था को देखते हुए गणित में एम. ए. कर रहे कृष्ण लाल घर पहुंचे तो वे विचित्र मानसिक विरक्ति लिए हुए थे।

माता पिता बेटे की इस मन:स्थिति से अत्यन्त दु:खी हुए। समझाया बुझाया। जप, तप का आयोजन किया। साधु-सन्तों को बुलवाया। पर जब कोई असर न हुआ तब उन्हें फांसने के लिए विवाह में बांधा गया और मैं जम्मू से बहू बन कर पुंछ आ गई।

यह सादा तरीन शादी तो आज के युवा लोगों के लिये कल्पनातीत है। न बैंड बाजा, न दहेज, न कोई आडम्बर ही। यह सब मेरी इच्छा से हुआ था।

इस तरह मैं प्रो० कृष्ण लाल भल्ला के साथ विवाह-सूत्र में बंध गई। अब मेरी गति-विधियों का क्षेत्र पुंछ बन चुका था। मुझ नव वधु को पारम्परिक वधु-वेश में न देखकर लोगों को हैरानी हुई।

इसी संदर्भ में एक और घटना याद आती है—एक दिन वर्क सेन्टर की एक महिला अधिकारी हमारे घर आयीं। मेरे ही कमरे में बैठी-बैठी जब वे ऊब गईं तो मुझ से कहने लगीं—"वो जो रात को बहू आई है आप मुझे उससे तो मिलवाइए।"

मन ही मन मुस्कराते हुए मैंने कहा—"जिस बहू को देखने आप आई हैं, वह मैं ही हूं।" खादी के साधारण वस्त्रों में, बिना किसी सिंगार के कोई लड़की बहू कैसे हो सकती हैं? और उन्हें स्वयं बहू द्वारा बहू का परिचय देना आश्चर्य में डाल गया था। उन्होंने मुझे वर्क-सेन्टर आने का निमन्त्रण दिया था। जीवन की इस अविस्मरणीय घटना के साथ वर्क-सेन्टर में जाने वाले मेरे कदम पुंछ के सामाजिक जीवन में प्रवेश के लिए उद्यत हो उठे थे।

वस्तुत: पुंछ के जन-जीवन ने मुझे इतना प्रभावित किया है कि 1971 से स्थायी रूप से जम्मू में रहते हुए भी मैं आज तक उनके अहेतुक स्नेह में डूबी हुई हूं।

पचास के दशक में जब मैं पहली बार पुंछ गई तो देखा कि लोगों की
सरलता और सहजता तो प्रशंसा योग्य है पर सामाजिक स्तर पर वे पिछड़े हुए
हैं। तब लड़कों के लिए एक हाई स्कूल और लड़कियों के लिए एक मिडल स्कूल
था जो अब डिग्री कालेज के खुलने के साथ ही धीरे-धीरे हायर सैकण्डरी में परि-
वर्तित हो गया है।

ऐसी ही स्थिति स्वास्थ्य सेवाओं की थी। अस्पताल का काम संतोषजनक
नहीं था। बाद में तो डाक्टरों, लेडी डाक्टर और ट्रेन्ड नर्सों द्वारा जनता को
पर्याप्त लाभ होने लगा। पुंछ में पहली लेडी डा० श्रीमती रम्बाल के आने से
स्त्रियों ने बड़ी राहत महसूस की। इसके लिये मुझे तथा मेरी सहयोगी बहनों को
कठोर संघर्ष करना पड़ा था।

पानी के लिये दरिया, कुएं और बावलियां तो थीं पर नल की कोई सुविधा
न होने पर पानी स्वयं ही ढोना पड़ता। हां, कुछ घरों में कहार बैंहगी पर पानी
देते देखे गए पर अधिकतर यह काम स्त्रियों और छोटी लड़कियों के जिम्मे था।
पुरानी पीढ़ी के लोगों के लिए यह काम भले ही मुश्किल न हो पर बाद की
लड़कियों के लिए अवश्य मुश्किल था। स्कूल जाओ, घर का काम करो और फिर
रविवार या किसी और छुट्टी के दिन तो पुंछ की इन सीधी सादी महिलाओं
को कपड़ों की गठरी सिर पर उठाए पनघट पर जाना होता।

मैं सोचती कि मैं कहा आ पहुंची? महात्मा जी से शादी करके घरेलू
झंझटों से जूझते हुए मेरी सिट्टी-पिट्टी गुम हो रही थी। मेरे विवाह के लिये
उपयुक्त और प्रस्ताव भी तो आये थे फिर मैंने पुंछ को ही क्यों चुना? प्रो० साहब
को लोग तब महात्मा कृष्ण कह कर पुकारते थे। पर खैर यह कोई घाटे का
सौदा न था। मैंने पुंछ के लिए जो किया उनमें उनका सक्रिय योगदान रहा।

अपनी कठिनाइयों का अहसास होते ही लोगों ने मेरे काम में सहयोग
देकर उसे सहल बना दिया। अब वे अपने अधिकारों के प्रति सचेत थे। कोई
भी सम्बन्धित अधिकारी पुंछ आवे तो हम सब—जिनमें दयावन्ती दीवान,
बुआ मूलांदेवी भल्ला और माता वीरां कौर तथा कई एक दूसरी बहनें डैपुटेशन
की शक्ल में वहां पहुंच जातीं और सम्बन्धित अधिकारी को अपनी समस्याओं से
परिचित करवातीं।

सीमावर्ती प्रदेश की कई समस्याओं के सिलसिले में मुझे श्री गुलजारी लाल
नन्दा, बख्शी गुलाम मुहम्द, डा० कर्ण सिंह और श्रीमती इन्दिरा गांधी से मिलने
का मौका मिला।

धीरे-धीरे समस्याएं सुलझने लगी। कालान्तर में शिक्षा, चिकित्सा और
परिवहन की समस्याओं में सुधार हुआ।

याद है मुझे जम्मू-कश्मीर के मुख्य मन्त्री बख्शी गुलाम मुहम्मद साहब से अपनी वह भेंट—जब हमारा डैपुटेशन कई समस्याएं लेकर उनके पास पहुंचा तो पहले से आए हुए लोग कहने लगे "हम कब से आए हुए हैं समय ही नहीं मिल रहा। लगता है बख्शी साहब कुछ नाराज हैं।" अपने परिचित बन्धु से मैंने मज़ाकिया लहज़े में कहा—"आप कहते हैं 'कुछ' नाराज हैं तो चलो हम उन्हें 'पूरा' नाराज़ कर आएं।"

बात पूरी भी न हो पाई थी कि एक आदमी मेरे पास आया और कहने लगा बख्शी साहब बुला रहे हैं।

बातचीत के दौरान जब पुंछ में पानी की असुविधा का ज़िक्र आया तो मैंने कहा—जनाब ! क्या बात है कि कश्मीर में तो जगह-जगह पर नल लगे हैं पर इधर ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है।" उन्होंने मुझे बीच में ही टोकते हुए कहा—क्या आपने कभी कश्मीर देखा भी है ?

हाज़िर जवाबी में मैंने कहा—"जनाब ! मेरी उम्र का जो भी अन्दाज़ आप लगा रहे हों उसके आधे बरस तो मैंने कश्मीर में बिताए हैं।" चीफ मिनिस्टर का तमतमाता चेहरा शांत हो गया। लोगों की खुसुरमुसुर में सन्नाटा व्याप गया और फिर वहां आए बख्शी साहब तो नल लगाये जाने का आदेश देकर ही गए।

इसी तरह लेडी डा० की समस्या को लेकर न जाने किन किन को मिलना पड़ा। जब पहली लेडी डा० मिसिज़ रम्बाल आई तब भी बधाई देने वालों का तांता मेरे घर पर लगा था जो स्वयं मेरे लिए एक आश्चर्य की बात थी।

वस्तुत: सरकारी तन्त्र से काम लेने के लिए जनमानस का जागरूक होना आवश्यक है। नहीं तो स्कूल, कालेज, नहरें, अस्पताल, डिसपेन्सरी, सड़क आदि सब कुछ कागज पर ही बनते हैं। जनता के आगे यह सब बरसों बाद खुलता है और वह भी चुनावी मौसम में।

पुंछ जैसे अहिन्दी-प्रदेश में मेरा हिन्दी प्रचार एक नया साहसिक प्रयोग था। वहां "राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति जम्मू काश्मीर" की परीक्षाओं का आयोजन किया गया।

इसके अतिरिक्त "गीता-भवन और कृष्णहाल" के सत्संगों में निरंतर भाग लेकर मैंने सेवा-सुमरिन और समर्पण के द्वारा उनके बौद्धिक दृष्टिकोण को एक नई दिशा देने का प्रयास किया यह संयोग ही था कि 1962 के चीनी आक्रमण पैंसठ तथा इकहत्तर के पाक आक्रमण के समय मैं ही पुंछ में थी। युद्ध की विभीषका से त्रस्त लोग घर छोड़ने पर मज़बूर थे पर जब मैंने लोगों के बीच जाकर कहा कि खुद ही पुंछ खाली करके शत्रु को सौंपने का गुनाह मत

करो सो इस बात की भी पूर्ववत सकारात्मक प्रतिक्रिया हुई। उन्होंने अपने इरादे वदल कर साहस से इस विपदा का सामना करने का बीड़ा उठा लिया।

सेवा, स्नेह और समर्पण के जिन संस्कारों को लेकर मैं इस जीवन यज्ञ में उतरी उसका यह सहज परिणाम था। मेरे इन संस्कारों की जड़ें बहुत गहरी थीं जो "भारत छोड़ो आन्दोलन" के समय से जुड़ी हैं। ज्यों ही आन्दोलन शुरू हुआ जम्मू में "अनुशीलन" समितियों का एक जाल सा बिछ गया। कु० सुशीला तुली और शकुन्तला सेठ के नेतृत्व में चलने वाली इस समिति से मैं प्रमुख रूप से जुड़ी थी। फिर इन्हीं संस्कारों को लेकर मैं जम्मू और पुंछ के संघर्षमय जीवन से जूझ सकी।

कल का अध्ययन सम्बन्धी शौक स्वाध्याय और स्वाध्याय आत्मचिन्तन बन गया। अब मेरे लिए देश और धर्म, राष्ट्रीयता और आध्यात्मिकता एक ही सिक्के की दो परतें हैं।

जीवन की इस सन्ध्या में अपने लिए तो बस "वसुधै कुटुम्बकम्" का मूलमंत्र ही मुख्य है।

बचपन में अपने पिता जी की कापी में लिखी एक कविता छुप कर पढ़ी थी—

पल में माता निज पुत्रों का
करती सौ सिंगार।

पल में रोती खड़ी सिरहाने
केस गले में डार।

पल में राजा कहलाते
परजा के सरदार।

पल में वेश फकीरी करके
छाड़ दिया घर बार।

ये पद उनके स्वयं रचित थे या संगृहीत—यह तो मुझे पता नहीं पर इतना अवश्य याद है कि इन्हें पढ़ कर मैं इतना भावुक हो उठी कि मेरा "बाल कवि न जाने कब तक आंसूओं में डूबा रहा। अपनी स्मृति में यही क्षण मेरे लिए प्रेरणा स्रोत बने।

लेखन क्यों, कैसे, कब के नाम पर मेरे पास एक सीधा सा उत्तर है—कि जब चिन्तन अनुभूति पथ पर चल पड़ता है तब कोई भी परिवेश, कोई भी परिस्थिति उसका लेखन स्रोत बन जाता है।

मुझे बचपन से ही कविता लिखने और सस्वर सुनाने का शौक था। यद्यपि

भारत-विभाजन त्रासदी से दुखित मेरे मन पर कुछ आड़ी तिरछी रेखाएं तो 1947 में ही उभर आयी थीं। इससे पूर्व 1940 और 1945 के मध्य में हिन्दी-साहित्य मण्डल जम्मू में मेरी कविताओं को लोग बड़े शौक से सुनते रहे थे। तब से मैं आकाशवाणी से भी जुड़ी हुई हूं।

उत्साहवर्धक परिस्थितियों का लाभ उठाते हुए मैंने अपने लेखन कार्य को पुस्तक रूप दे दिया। अब तक मेरे दो कथा संग्रह—"ये तस्वीरें" और "कलाकार के आंसू" छप चुके हैं। "ये तस्वीरें" "सुरभि" मेरी काव्य और कथा कृतियां हैं।

शीराजा, हमारा-साहित्य, डुग्गर समाचार, पंजाब केसरी, कश्मीर से प्रकाशित "नीलजा" और "सतीसर" से भी मेरा लेखन चर्चित और प्रशंसित हुआ है। मेरी कथाओं के पात्र समाज के मध्यवर्ती और साधारण वर्ग से जुड़े हैं।

जहां मैंने जीवन को गहरे आत्म विश्वास से जिया वहां निरन्तर कर्मठ बने रहने का संतोष भी मेरी एक उपलब्धि है। निश्चय ही।

बहिरंग

प्रो० चमन लाल सप्रू

राज भल्ला से मेरा परिचय राज्य के सीमावर्ती शहर पुंछ में 1967 में हुआ था। राज जी का बचपन जम्मू में और यौवन पुंछ में बीता है। राज भल्ला को अपने आसपास के समाज को देखने समझने का पर्याप्त अवसर मिला। कालान्तर में वे चिन्तनशील लेखिका हो गयीं।

जिस किसी मंच से राज जी बोलती थीं मैं उनके भीतर के आक्रोश और संवेदना के लावे को उनकी वाणी से प्रवाहित होते हुए देखता था। उपेक्षित एवं नारी वर्ग की समस्याओं का बारीकी से अध्ययन करने वाली राज भल्ला के पास उनका समाधान भी था। उनके क्रान्तिकारी विचारों को सुनने के लिए पुंछ का पिछड़ा समाज सुनने के लिए तैयार भी था किन्तु सामाजिक विवशताओं के कारण वह उन विचारों के अनुरूप ढलने में सकुचाता था। इससे राज जी को मैंने क्षुब्ध भले ही देखा हो किन्तु उनके मिशन में कभी निराशा नहीं देखी।

सब प्रकार के मानवीय गुणों को उजागर करने की क्षमता रखने वाला धार्मिक वातावरण उनके पैतृक गृह की विशेषता रही है। स्वतंत्रता और मर्यादा का अद्भुत सामंजस्य पूर्ण वातावरण उनको बाल्यकाल से ही उपलब्ध था। ऐसे परिवेश में बिना औपचारिक शिक्षा के उनका चिन्तनशील व्यक्तित्व स्वयंमेव उभरता और विकसित होता रहा। राज जी को उपन्यासों ने अपने बाल्यकाल में सदैव आकृष्ट किया है। लाईब्रेरी से प्रेमचन्द और शरत् के उपन्यासों को लेकर पढ़ने में उन्हें बड़ा आनन्द मिलता था। इस प्रकार बचपन में ही उन्होंने प्रेम चन्द साहित्य डूब कर पढ़ा। वे बंकिम के 'आनन्द मठ' से भी प्रभावित हुई। कामायनी और दीपशिखा ने भी उनको मुग्ध किया।

कालान्तर में इसी सजग और सशक्त चिन्तन के लेखक उन के प्रेरणास्रोत बन गए।

अब तक राज जी की तीन कृतियां प्रकाशित हुई हैं, 'ये तस्वीरें', कलाकार के आंसू, और सुरभि। राज जी की रुचि मुख्यतया कहानी लेखन में है। हिन्दी जगत उनको राज्य की एक प्रतिष्ठित कहानी लेखिका के रूप में ही जानता है। जब-जब अल्हड़पन और मौजमस्ती में चिन्तन के पग थिरकने लगें होंठ कुछ गुन-गुनाने लगें तब-तब मेरी कविता प्रस्फुटित हुई और जब-जब जीवन की तलखियों ने मुझे चुप करा दिया, होंठ कुछ सिल गए, तब-तब वही चिन्तन कहानी में मुखरित हो उठा।

एक कवि अथवा लेखक को सब से अधिक संतोष तब मिलता है जब उसके श्रोता और पाठक उसे प्रोत्साहित करें। इस सदर्भ में उन्होंने कहा—मैं "1940 और 1945 में हिन्दी साहित्य मंडल की गोष्ठियों में भाग लेकर अपनी कविता से श्रोताओं को रस विभोर कर रही थी। कविता का जादुई असर किस तरह उन्हें आकृष्ट करता रहा है इसके प्रत्यक्ष दर्शी प्रशान्त जी एवं पुष्प जी हैं।

अब: तक इनके दो कथा संग्रह प्रकाशित हुए हैं। एक मां को सभी बच्चे प्यारे होते हैं। फिर भी राज जी को जिन कहानियों पर आत्म संतोष हैं वह इन गिनी चुनी कहानियों के उल्लेख के लोभ का संवरण नहीं कर सकीं—वे हैं—'एक कैदी अजीब सा 'यादों की परछाइयां' 'जल समाधि' 'ये फाईलें' और 'ये कतारें' 'आखिरी और पांचवी मौत' 'सम्बन्धों का त्रिकोण' और 'रजाई'।

राज भल्ला की कहानियों का मुख्य कथ्य सामाजिक विसंगतियां रही हैं। कहीं-कहीं इनकी कहानियों में राजनैतिक हलचल के स्वर भी सुनाई पड़े हैं।

राज जी अपनी कविताओं का सस्वर पाठ करती हैं। बकौल उनके "मुझे अच्छी तरह स्मरण है जब स्व० शंकर शर्मा 'पिपासु' उस समय के श्रेष्ठतम कवियों में होते हुए भी कविता सुनाने में हिचकिचाते थे। जो उनका स्वभाव था या प्रस्तुतीकरण का ढंग यह तो मुझे पता नहीं पर उनकी सदा यह इच्छा रहती थी कि मैं उनकी कविता को मधुर स्वर दूं। दो एक बार ऐसा हुआ भी। इसी प्रकार स्व० श्री दीनू भाई पंत यद्यपि बड़े सलीके से कविता पाठ करते तो भी 'पिपासु' जी की तरह उन्हें इच्छा रहती कि मैं कविता का सस्वर पाठ करूं 'तुम तब आए जब दीप रहा न बाती' उनकी कविता की यह पंक्ति मुझे अभी तक याद है। इस कविता को सस्वर गाने का उनका आग्रह मुझे आज भी नहीं भूला है। पता नहीं क्यों मैं ऐसा करने से इन्कार रही थी।" मैं बचपन से ही कवि सम्मेलनों में भाग लेती रही हूं। एक बार अविभाजित भारत के सरगोधा शहर में एक विराट कवि सम्मेलन का आयोजन था। इसमें रियासत की सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्रिका 'उषा' की प्रकाशिका कु० सुशीला तुली के माध्यम से मुझे और स्व० कृष्णा कपूर को निमंत्रित किया गया था। हम दोनों सरगोधा पहुंचीं। श्रोताओं की भीड़ देखते ही बनती थी, क्योंकि उस समय खुले प्रांगण में

यह सब होता था। जिस उत्साह से काव्य पाठ हो रहा था उससे दुगुने उत्साह से लोग सुन रहे थे। मैंने यह कविता पढ़ी—

"क्या पढ़ा नहीं इतिहासों में
बातों से बातें नहीं बनीं।
क्यों रक्त तुम्हारा न खौले,
जब दु:ख की बदरी होय घनी।
ओ उठो जवानो होश करो
न नारों पर विश्वास करो।
दो हाथ दिए प्रभु ने तुझ को
बस इस पर ही तुम आस करो।
जो हुआ उसे अब मत सोचो
जो होना उसको याद करो।
समस्याएं तब सुलझेंगी
जब भेद मिटा, आह्लाद करो।...

तब इस राष्ट्रीय कविता को बार बार सुनाने का आग्रह किया गया था। लोगों का ऐसा उत्साह फिर शायद ही देखने को मिला। श्रोताओं को अपनी कविताओं से विभोर करने का दृश्य मेरे लिए भी पहला और अप्रतिम था।

"'वसन्तोत्सव' पर दीवान मंदिर में एक कवि सम्मेलन हुआ। इस अपार भीड़ में कुछ शरारती लोग भी आ घुसे। दरअसल वे भद्द उड़ाने आए थे। मैं कविता नहीं पढ़ना चाहती थी पर फिर जब पढ़ी तो वही लोग ऐसे मुग्ध हुए कि वहीं के वहीं बैठे रह गये।

प्रो० पृथ्वीनाथ पुष्प श्री धर्मचन्द प्रशान्त, प्रो० देवरत्न शास्त्री जैसे मूर्धन्य लोग उनके समकालीन लेखकों में से हैं।

'सुरभि' काव्य संग्रह के प्रकाशन पर प्रो० पृथ्वीनाथ 'पुष्प' ने उनको लिखा—"गृहस्थ की व्यस्तताओं में भी 'सुरभि' बिखेरने पर धन्यवाद की पात्र तो हैं ही पर 'सुरभि' कविता-संग्रह को देखकर दीवान-मंदिर के वसन्तोत्सव में सुनाई कविता का पुन: रसास्वादन करवाने की स्मृति मात्र के लिए आप और भी अधिक धन्यवाद की पात्र हैं......।"

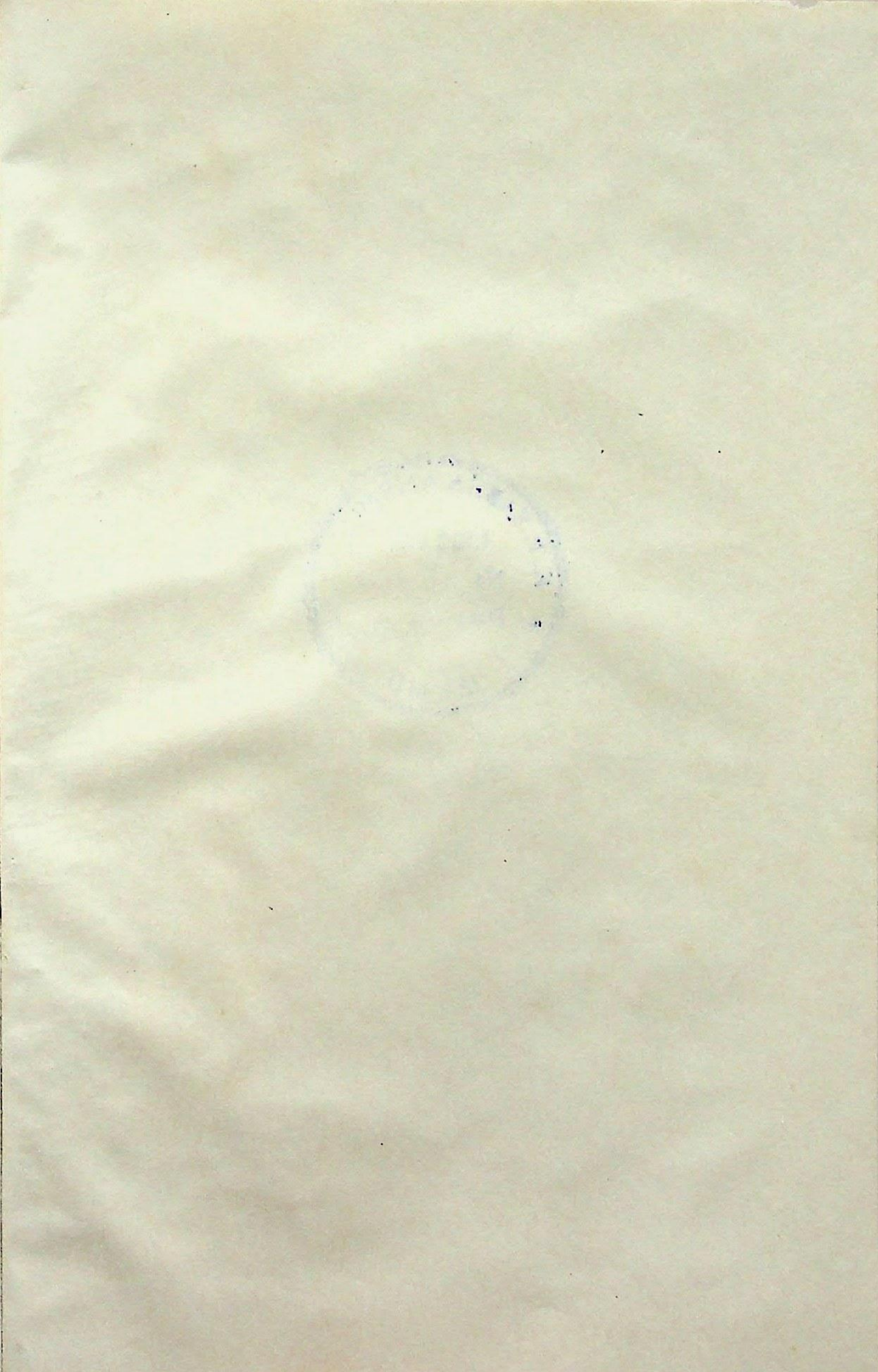
प्रो० देवरत्न शास्त्री के शब्दों में "सामाजिक कुरीतियों एवं विषमताओं के के विरुद्ध तीव्र किन्तु रचनात्मक विद्रोह लेखिका के व्यक्तित्व एवं कृतित्व में एकाकार मिलता है।......गृहस्थ की सीमाएं परम्परागत बन्धनों का मोह और सांसारिकता की मर्यादा को निभाते हुए लेखिका को अपने से कितना संघर्ष करना पड़ता होगा, इसकी स्पस्ट छाप कलाकार के आंसू में देखी जा सकती है।"

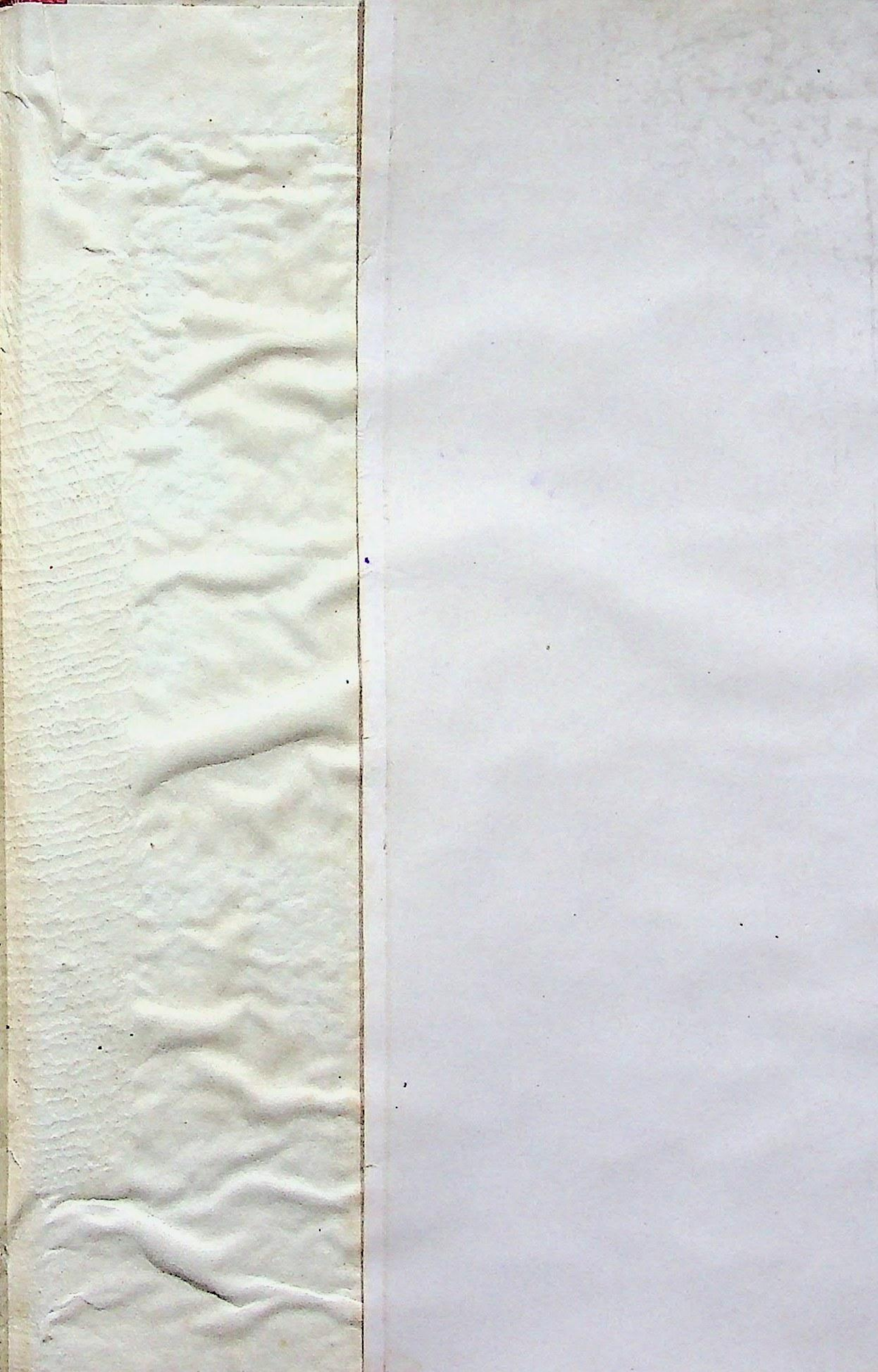
श्री धर्मचन्द्र प्रशान्त के विचार में "कवयित्री राष्ट्र और समाज की प्रत्येक समस्या से परिचित है। आज देश के सामने कितनी ही समस्याएं हैं जिन्हें उन्होंने बखूती उकेरा है।

समकालीन संवेदना की सूक्ष्मता की दृष्टि से 'सुरभि' में संकलित कविताए बेजोड़ और यथार्थपूर्ण हैं।"

बहुमुखी प्रतिभा तथा वैदुष्य सम्पन्न श्रीमती राज भल्ला आत्मविश्वास से भरी लेखिका होने के साथ-साथ एक सहज, संवेदनशील, सादगी की उज्जवलता लिए हुए एक कर्मठ और जागरूक महिला हैं।

चाहे वे आंगन में बिछी खाट पर गेहूं सुखा रही हों। या अचार को धूप दिखा रही हों। जमीन पर दरी बिछाए, हंसिये पर पैर धरे, सरसों, बथुआ का साग काट रही हों या पोतियों के लिए स्वेटर पर खरगोश बुन रही हों, पति की कमीज़ पर इस्तरी कर रही हों, या घरेलू सामान की फेहरिस्त जांच रही हों या कहीं भाषण, प्रवचन, सत्संग में जा रही हों। उम्र का एक खासा हिस्सा पक कुकने पर भी वे चुस्त दुरुस्त बनी हुई हैं अब भी वैसी ही।......







Published by the Secretary on behalf of J & K Academy of Art, Culture & Languages, Jammu.
Printed at M/S B. D. Printers, Kot Kishan Chand, Jalandhar City (Pb.)